भारतीय कला का परिचय

भाग 1

ललित कला की पाठ्यपुस्तक
कक्षा 11 के लिए

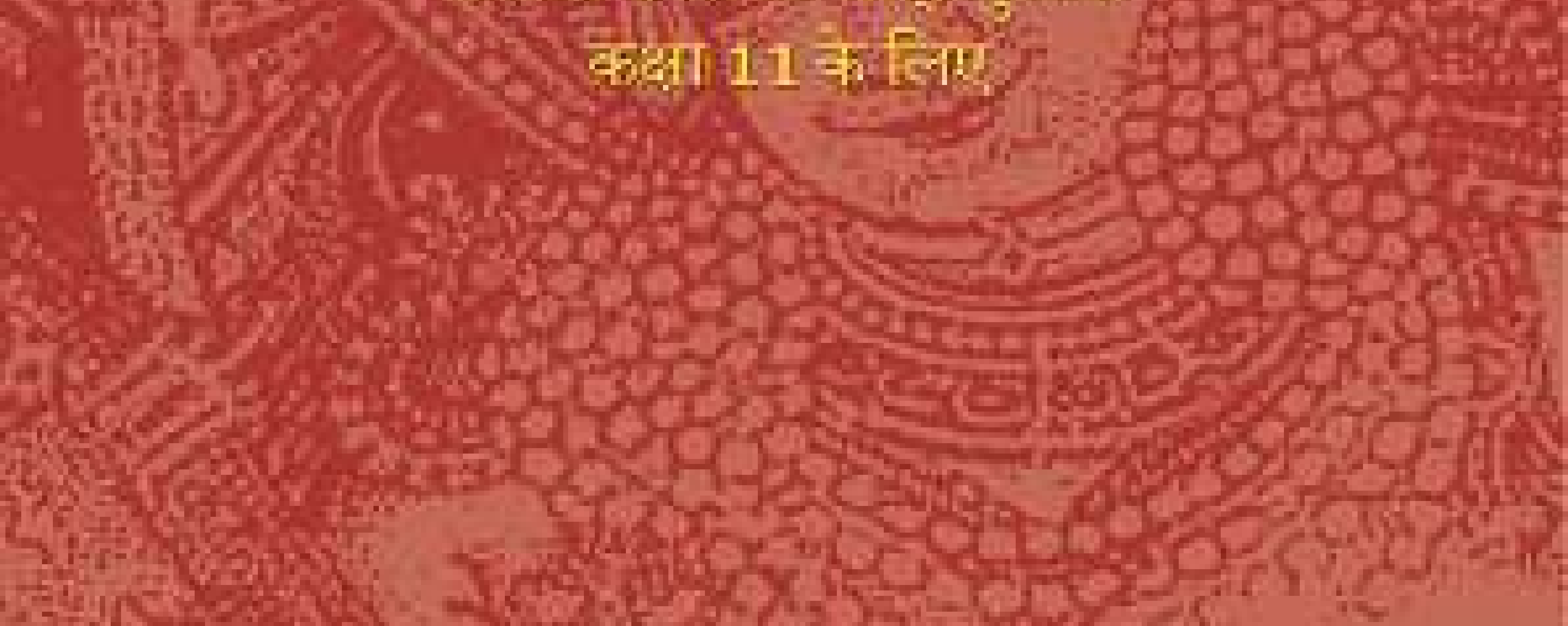

भारतीय कला का परिचय

भाग 1

ललित कला की पाठ्यपुस्तक
कक्षा 11 के लिए

© NCERT not to be republished

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

11148 – भारतीय कला का परिचय भाग 1
कक्षा 11 के लिए पाठ्यपुस्तक

ISBN 978-93-5292-073-0

प्रथम संस्करण
जून 2018 ज्येष्ठ 1940

पुनर्मुद्रण
मार्च 2021 फाल्गुन 1942
दिसंबर 2021 अग्रहायण 1943

PD 40T RPS

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2018

₹ 125.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा प्रतिभा प्रैस एवं मल्टीमिडिया प्राइवेट लिमिटेड, 6, अशोक नगर, लाटूश रोड, लखनऊ – 226 018 द्वारा मुद्रित।

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 **फोन : 011-26562708**

108, 100 फीट रोड
होस्डेकेरे हेली एक्सटेंशन
बनाशंकरी III स्टेज
बेंगलुरू 560 085 **फोन : 080-26725740**

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 **फोन : 079-27541446**

सी.डब्यू.सी. कैंपस
निकट धनकल बस स्टॉप, पनिहटी
कोलकाता 700 114 **फोन : 033-25530454**

सी.डब्यू.सी. कॉम्प्लेक्स
मालीगाँव
गुवाहाटी 781 021 **फोन : 0361-2674869**

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग	:	*अनूप कुमार राजपूत*
मुख्य संपादक	:	*श्वेता उप्पल*
मुख्य उत्पादन अधिकारी	:	*अरुण चितकारा*
मुख्य व्यापार प्रबंधक	:	*विपिन दिवान*
संपादन सहायक	:	*ऋषिपाल सिंह*
उत्पादन सहायक	:	*ओम प्रकाश*

आवरण
सुरेन्द्र कुमार

ले-आउट
सीमा श्रीवास्तव

© NCERT not to be republished

प्राक्कथन

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् लगभग पाँच दशकों से लगातार विद्यालयी शिक्षा पद्धति में सुधार लाने के लिए कार्यरत है। विगत वर्षों में खासतौर पर *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा* (एन.सी.एफ.) - 2005 के पश्चात् पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण, उनकी प्रस्तुति एवं अंतरविषयी दृष्टिकोण में, अभ्यास के प्रश्नों इत्यादि में विशेष बदलाव देखने को मिलता है। इन प्रयासों ने पाठ्य-पुस्तकों को विद्यार्थियों के लिए सहज बनाया है। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर, जो छात्रों के लिए विद्यालयी स्तर का अंतिम चरण है, उन्हें विषयों के अधिक विकल्प मिलने चाहिए जिससे वह आगे उच्च शिक्षा अथवा व्यावसायिक शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ सकें। इस दृष्टिकोण से परिषद् द्वारा सर्वप्रथम कला के अनेक विषयों में पाठ्यचर्या एवं पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया है।

शिक्षा के इस चरण में, ललित कला के पाठ्यक्रम को एक व्यावसायिक दृष्टिकोण से आकलित किया गया है जिससे वह उच्च माध्यमिक स्तर तक दिया जाने वाला सामान्य ज्ञान का विषय न होकर एक अध्ययन के विषय के रूप में देखा गया है। इन कक्षाओं में ललित कला के अधिगम के उद्देश्य भी मुक्त अभिव्यक्ति का माध्यम न होकर विद्यार्थियों के कौशल विकास और उनके द्वारा अपनी शैली और विशिष्ट माध्यम से काम करना है। इस स्तर पर दृश्य कला के विद्यार्थियों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे भारत एवं विश्व के कला इतिहास की समझ भी बनाएँ। कला इतिहास, कला के अध्ययन का ही एक भाग है और स्वयं में एक अलग विषय भी जिससे विद्यार्थी अपनी विरासत के बारे में जान पाते हैं। ज्ञात है कि देश की विभिन्न शिक्षा परिषदें दृश्य अथवा ललित कला विषयों को उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पढ़ाती हैं जिसमें चित्रकला, मूर्तिकला, व्यावहारिक कला अथवा व्यावसायिक कला जैसे विषय शामिल हैं। इन सभी पाठ्यक्रमों का अध्ययन करने के पश्चात् राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने इस पाठ्यक्रम में प्रयोग के अतिरिक्त सिद्धान्त का हिस्सा भी शामिल है जिससे देश की कला, ऐतिहासिक विरासत और स्थापत्य के विषय में विद्यार्थी जानकारी प्राप्त करते हैं। इसे ध्यान में रखते हुए कक्षा 11 के लिए *'भारतीय कला का परिचय, भाग–1'* नामक पाठ्यपुस्तक का निर्माण किया गया है।

कक्षा 11 की इस पाठ्यपुस्तक में प्रागैतिहासिक काल के गुहा भित्तिचित्रों की परंपरा और उसका बौद्ध काल में और उसके बाद देश के विभिन्न भागों में बौद्ध, जैन एवं हिन्दू मूर्तिकला और स्थापत्य कला में विस्तार देखने को मिलता है। इंडो-इस्लामिक काल में कला के निर्माण के एक नए युग का आरंभ हुआ। इसके अंतर्गत अनेक विशाल किलों, मस्जिदों, मकबरों और महलों का निर्माण हुआ जिनकी विभिन्न शैलियों के विषय में भी विस्तारपूर्वक जानकारी दी गई है। इस तरह विद्यार्थियों का परिचय भारतीय संस्कृति से कराया गया है।

© NCERT not to be republished

रा.शै.अ.प्र.प. पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तक समितियों द्वारा किए गए कठिन परिश्रम की प्रशंसा करती है। हम इस पाठ्यपुस्तक की निर्माण समिति के मुख्य सलाहकार रतन परिमू, *अध्यक्ष* (सेवानिवृत्त), ललित कला संकाय, एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा के प्रति इस कार्य के मार्गदर्शन के लिए आभार व्यक्त करते हैं। समिति में सम्मिलित सभी इतिहासकारों के लिए विद्यालय स्तर के छात्रों के लिए पाठ्यपुस्तक का निर्माण एक चुनौती थी जिसमें वे सफल हुए और उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है। हम उन संस्थानों और संगठनों के आभारी हैं, जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्रियों और कार्मिकों को हमारे साथ साझा करने की अनुमति दी। हम मानव संसाधन विकास मंत्रालय के माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय निगरानी समिति के सदस्यों के प्रति विशेष रूप से आभारी हैं, जिसमें अध्यक्ष के तौर पर प्रोफेसर मृणाल मीरी और प्रोफेसर जी.पी. देशपांडे ने अपना मूल्यवान समय और योगदान दिया। अपने उत्पादों की गुणवत्ता और व्यवस्थित सुधार और निरंतर उन्नति के लिए वचनबद्ध संगठन के रूप में रा.शै.अ.प्र.प. टिप्पणियों और सुझाव का स्वागत करती है जो भविष्य में इसके संशोधन और परिष्कृतिकरण में हमारी सहायता करेंगे।

नयी दिल्ली
मई 2018

हृषिकेश सेनापति
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और
प्रशिक्षण परिषद्

© NCERT not to be republished

प्रस्तावना

ब्रिटिश शासन काल में, कुछ ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारियों ने कुछ भारतीय विद्वानों के साथ मिलकर भारत के अतीत का अध्ययन करने में अपनी सक्रिय रुचि दिखाई। उनके ऐसे प्रयासों के फलस्वरूप भारत में कला सम्बंधी स्मारकों के अध्ययन का कार्य सुव्यवस्थित रूप से शुरू हुआ। सर्वप्रथम ऐसे स्मारकों की सूची बनाकर उनका संक्षिप्त प्रलेख तैयार किया गया जो भारत के अतीत के अवशेषों के सुस्पष्ट साक्ष्य थे। तत्पश्चात् पुरातत्वीय खोजों और खुदाइयों का काम शुरू किया गया, जिसके फलस्वरूप अनेक कला सम्बंधी ऐतिहासिक स्थलों का पता चला। शिलालेखों तथा उत्कीर्ण लेखों को पढ़ा और समझा गया। प्राचीन सिक्कों/मुद्राओं आदि के बारे में जानकारी प्राप्त की गई। ऐसी जानकारियों के आधार पर हमें अतीत की कलात्मक परंपराओं को जानने-समझने में सहायता मिली। धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन के साथ-साथ धर्म के इतिहास का भी अध्ययन किया गया और पुरानी प्रतिमाओं/मूर्तियों एवं चित्रों को पहचानने का कार्य प्रारंभ हुआ जो आरंभिक ज्ञान एवं विद्वता को जानने-समझने का एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन बन गया। वैसे तो कला के इतिहास का अध्ययन पुरातत्वीय अध्ययनों के क्षेत्र में ही विकसित हुआ था किन्तु अब इसे एक विशिष्ट शास्त्र यानी एक अलग विषय के रूप में मान्यता दी गई है। पाश्चात्य देशों में, प्रमुख रूप से यूरोप में इस विषय ने अनेक प्रणाली तंत्रीय साधनों की सहायता से पर्याप्त उन्नति की है किन्तु भारत में अभी तक यह अनुसंधनात्मक प्रणालियों में विकास की प्रक्रिया तक ही सीमित है।

चूंकि कला के इतिहास का अध्ययन व्यापक प्रलेखन तथा उत्खनन कार्यों के आधार पर विकसित हुआ है इसलिए कलात्मक वस्तुओं का वर्णन इस विषय के अध्ययन का प्रमुख आधार बन गया है। बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में ऐसे बहुत ही कम उल्लेखनीय अध्ययन किए गए, जहां चिंतन का विषय साधारण वर्णन से आगे बढ़ा हो और अध्ययनकर्ताओं ने वर्णन के अलावा कुछ और भी विवेचन किया हो। अनेक स्मारकों, मूर्तियों और शैलियों का नामकरण तत्कालीन राजवंशों के आधार पर किया गया, जैसे—मौर्य कला या मौर्य कालीन कला, सातवाहन कला, गुप्त कालीन कला आदि। इसके अलावा, कुछ कलाकृतियों के काल का नामकरण धार्मिक आधार पर भी किया गया, जैसे—बौद्ध काल, हिंदू काल और इस्लामिक या मुस्लिम काल। लेकिन इस तरह निर्धारित किए गए नाम, कला की परंपराओं को समझने के लिए उपयोगी नहीं हैं। मध्य युगीन कला और वास्तु संबंधी स्मारकों को अनेकों रूपों में राजवंशों का संरक्षण मिला, लेकिन इससे पहले के ऐतिहासिक काल को भी राजवंशों के नामों से जोड़ दिया गया और वे आज भी प्रचलित हैं।

© NCERT not to be republished

प्राय: किसी भी कलावस्तु का अध्ययन दो महत्वपूर्ण तरीकों या दृष्टिकोणों से किया जाता है, जिन्हें (i) रूपाकारवादी (फॉर्मेलिस्टिक) या शैलीगत (स्टाइलिस्टिक) अध्ययन, और (ii) विषय-वस्तु विश्लेषण कहा जाता है। पहली श्रेणी यानी रूपाकारवादी श्रेणी के अंतर्गत मूर्ति, स्थापत्य या चित्रों की रूपाकारवादी विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है, जबकि दूसरी श्रेणी के अंतर्गत विषयवस्तु के विश्लेषण के विभिन्न स्तरों का उल्लेख किया जाता है, जिसके अनेक घटक होते हैं, जैसे मूर्ति/प्रतिमा विद्या का अध्ययन (आइकोनोग्राफिक स्टडी), प्रतिमा विज्ञान (आइकॉनोलॉजी), आख्यान और संकेत विज्ञान।

प्रतिमा विद्या के अंतर्गत प्रतिमाओं की पहचान करना सिखाया जाता है। यह पहचान कतिपय प्रतीकों एवं संकेतों और उनके बारे में प्रचलित मिथकों तथा आख्यानों के माध्यम से की जाती है जबकि संकेतों के विकास का अध्ययन उनके ऐतिहासिक, सामाजिक और दार्शनिक संदर्भ में किया जाता है। आज प्रणालीतंत्रीय रूपरेखा के अंतर्गत कला उत्पादन की प्रक्रिया में अनेक सरोकारों और मुद्दों की खोज करने की कोशिश की जाती है और परंपरागत मूल्यों से बाहर निकलने का प्रयास किया जाता है। यह द्रष्टव्य है कि विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं के राजनीतिक आशय या उद्देश्य अभी तक व्यापक अनुसंधान की प्रक्रिया के अंग नहीं बन पाए हैं। धार्मिक विचारधाराएँ भी प्राचीन भारत में सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का रूपनिर्धारण करने में सहायक रही हैं, इसलिए ऐसे कारकों का अध्ययन करना भी महत्वपूर्ण बन जाता है जिन्होंने विभिन्न कला रूपों को प्रभावित किया है। धार्मिक स्थलों से काफी बड़ी मात्रा में सामग्री प्राप्त हुई है किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि धार्मिक क्षेत्रों में कला का आविर्भाव या प्रचार नहीं था। पक्की मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियाँ ऐसे धर्म-निरपेक्ष कला-क्षेत्रों के सर्वोत्तम उदाहरण हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण कला के विवेचकों द्वारा उनका उल्लेख मात्र ही किया गया है, उन पर विस्तार से चर्चा नहीं की गई है। तथापि प्रस्तुत पुस्तक में मानक परंपरागत विवरणात्मक लेखन से परे हटकर कला तथा पुरातत्वीय स्मारकों के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक विकास का अध्ययन किया गया है और यह बताने का प्रयास किया गया है कि उनके विकास की शैलियाँ क्या थीं और सामाजिक तथा राजनीतिक संबंध कैसे और किसके साथ थे। इस प्रकार यह पाठ्यपुस्तक भारतीय कला के इतिहास के अध्ययन का एक विनम्र प्रयास है।

आज देश में बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त और मातृपूजक जैसे विभिन्न संप्रदायों एवं पंथों तथा इस्लाम जैसे धर्मों के अनेक स्मारक देखने को मिलते हैं। वे सब हमारी सांस्कृतिक विरासत के अभिन्न अंग हैं। हमारी सामाजिक संस्कृति विभिन्न विचारधाराओं का सुंदर संगम है, जो वास्तु/स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला के नाना रूपों में अभिव्यक्त हुई है। इनका अध्ययन धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोणों से करने की आवश्यकता है। साथ ही सांस्कृतिक परंपरा के एकरेखीय चित्रण पर भी पुन: विचार करना आवश्यक है, क्योंकि यह हमारे प्राचीन अतीत की वास्तविकताओं से हटकर है। उन दिनों भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य कलाकारों या कलाशिल्पियों की अलग-अलग श्रेणियों द्वारा किए जाते थे। जब किसी धार्मिक या राजनीतिक सत्ताधारी को कोई स्मारक, राजमहल या मंदिर बनवाना होता था तो वह संबंधित कलाकारों या शिल्पियों की श्रेणी को काम सौंप देता था और वे कलाशिल्पी सौंपे गए कार्य को अपनी नूतन उद्भावनाओं के

© NCERT not to be republished

साथ संपन्न करने के लिए विभिन्न कार्यविधियां अपनाते थे। शैलीगत श्रेणियाँ शीघ्र अतिशीघ्र नहीं बदला करती थीं। वे लंबे समय तक अपरिवर्तित बनी रहती थीं, इसलिए भारतीय कला का अध्ययन करते समय, अध्येता को इन बहुत सी महत्वपूर्ण बातों को अपने ध्यान में रखना होगा। इस पुस्तक में प्राक् एवं आद्य-ऐतिहासिक काल से इस्लामिक काल तक के स्मारकों के बारे में एक परिचयात्मक रूपरेखा ही प्रस्तुत की गई है। इस मर्यादा को ध्यान में रखते हुए, विकास क्रम के स्वरूप को समझने के लिए बहुत कम उदाहरण दिए गए हैं और वे उदाहरण मात्र ही हैं और कुछ नहीं। लेकिन हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हम किसी भी ऐसे उदाहरण को अमान्य या अलग कर दें जो हमारे विचार से अधिक महत्वपूर्ण नहीं। बल्कि इस कार्य में योगदान करने वाले सभी लेखकों ने अपने-अपने विषयों का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है। पुस्तक के सभी अध्यायों में देश के प्रत्येक क्षेत्र में प्रचलित कलाओं के विभिन्न रूपों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

मनुष्य ने जब पृथ्वी पर जन्म लिया था, तभी से मानव सभ्यता का आरंभ हो गया था। भारत भर में सर्वत्र पत्थर के औजारों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। यही त्रि-आयामी रूप के साथ मानव की अंतरक्रिया का एकमात्र बचा हुआ उदाहरण है। प्रागैतिहासिक शैल-कला किसी जादुई कर्मकांड या धार्मिक विश्वास प्रणाली की देन है। प्रागैतिहासिक शैल-चित्र भारत में अनेक स्थानों पर पाए जाते हैं। इनके कुछ महत्वपूर्ण उल्लेखनीय स्थल हैं—भोपाल के पास स्थित भीमबेटका की गुफाएँ, उत्तर प्रदेश में स्थित मिर्जापुर की पहाड़ियाँ और कर्नाटक के बेल्लारी जिले की पहाड़ियाँ। भीमबेटका के शैल-चित्र चट्टानी आश्रय-स्थलों पर उत्कीर्णित और चित्रित किए गए हैं। आकृतियाँ साधारण रेखाओं के रूप में प्रस्तुत की गईं हैं। उन्हें सक्रिय रूप में यानी कोई क्रिया करते हुए दर्शाया गया है, उनके हाथ-पैर इकहरी रेखाओं से बनाए गए हैं। इन शैलाश्रयों में अधिकतर शिकार और नृत्य की क्रियाओं के दृश्य प्रस्तुत किए गए हैं। भीमबेटका का समय मध्य पाषाण काल (मेसोलिथिक पीरियड) यानी 11,000-3000 ई.पू. माना जाता है। ये चित्र, रेखाओं का सम्यक् प्रयोग करते हुए, दृश्यों को चित्र रूप में प्रस्तुत करने की मानवीय आकांक्षा के द्योतक हैं।

© NCERT not to be republished

महात्मा गांधी का जंतर

मैं तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ —

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानी क्या उससे उन करोड़ो लोगों को स्वराज मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त हो रहा है।

© NCERT not to be republished

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

मुख्य सलाहकार

रतन परिमू, *अध्यक्ष* (सेवानिवृत्त), ललित कला संकाय, एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा

सलाहकार

वाई. एस. अलोने, *प्रोफ़ेसर*, कला एवं सौंदर्यशास्त्र विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सदस्य

सीमा एस. ओझा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, इतिहास, सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

नमन आहुजा, *प्रोफ़ेसर,* कला एवं सौंदर्यशास्त्र विभाग, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

शमा मित्रा चेनॉय, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर,* इतिहास, शिवाजी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

के.सी. चित्राभानु, *प्रोफ़ेसर* (सेवानिवृत्त), कला इतिहास, राजकीय ललित कला महाविद्यालय (कॉलेज), तिरुअनंतपुरम्

सुचिता रावत, *पी.जी.टी.,* ललित कला, दिल्ली पब्लिक स्कूल, भोपाल

संतोष जैन, *अध्यक्ष* (सेवानिवृत्त), चित्रकला विभाग, दिल्ली पब्लिक स्कूल, वसंत कुंज, नयी दिल्ली

अनुवाद

परशुराम शर्मा, *पूर्व निदेशक*, केन्द्रीय सचिवालय (राजभाषा), भारत सरकार, नयी दिल्ली

सदस्य-समन्वयक

ज्योत्स्ना तिवारी, *अध्यक्षा* एवं *प्रोफ़ेसर,* कला एवं सौंदर्य शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली

© NCERT not to be republished

आभार

हम पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के रतन परिमू, *मुख्य सलाहकार*, वाई.एस. अलोने, *सलाहकार*, एवं अन्य सभी सदस्यों के आभारी हैं जिन्होंने पाठ्यपुस्तक को इस स्वरूप तक पहुंचाने में मदद की। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं के भी हम आभारी हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पाठ्यपुस्तक निर्माण में सहयोग दिया।

हम सुरेन्द्र कौल, तत्कालीन *महानिदेशक,* सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र (सी.सी.आर.टी.) के आभारी हैं जिन्होंने हमें उदारतापूर्वक अपने संसाधनों का प्रयोग करने की स्वीकृति दी।

हम वी.के. जैन, *आचार्य* (सेवानिवृत्त), मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, के भी आभारी हैं जिन्होंने पाठ्यपुस्तक की समीक्षा के दौरान बहुमूल्य सुझाव दिये। हम ममता गौड़ एवं आदित्य शुक्ला, *संपादक* (संविदा), प्रकाशन प्रभाग, एन.सी.ई.आर.टी. के भी आभारी हैं जिन्होंने पाठ्यपुस्तक की पाण्डुलिपि को गौर से देखा और सुझाव दिये।

अजय प्रजापति और अनीता कुमारी, *डी.टी.पी. ऑपरेटर्स*, प्रकाशन प्रभाग के हम विशेष आभारी हैं।

© NCERT not to be republished

विषय सूची

प्राक्कथन *iii*

प्रस्तावना *v*

1. प्रागैतिहासिक शैल-चित्र **1**
2. सिंधु घाटी की कलाएँ **8**
3. मौर्य कालीन कला **18**
4. भारतीय कला और स्थापत्य में मौर्योत्तर कालीन प्रवृत्तियाँ **27**
5. परवर्ती भित्ति-चित्रण परंपराएँ **61**
6. मंदिर स्थापत्य और मूर्तिकला **68**
7. भारतीय कांस्य प्रतिमाएँ **103**
8. इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला के कुछ कलात्मक पहलू **109**

शब्दावली **126**

© NCERT not to be republished

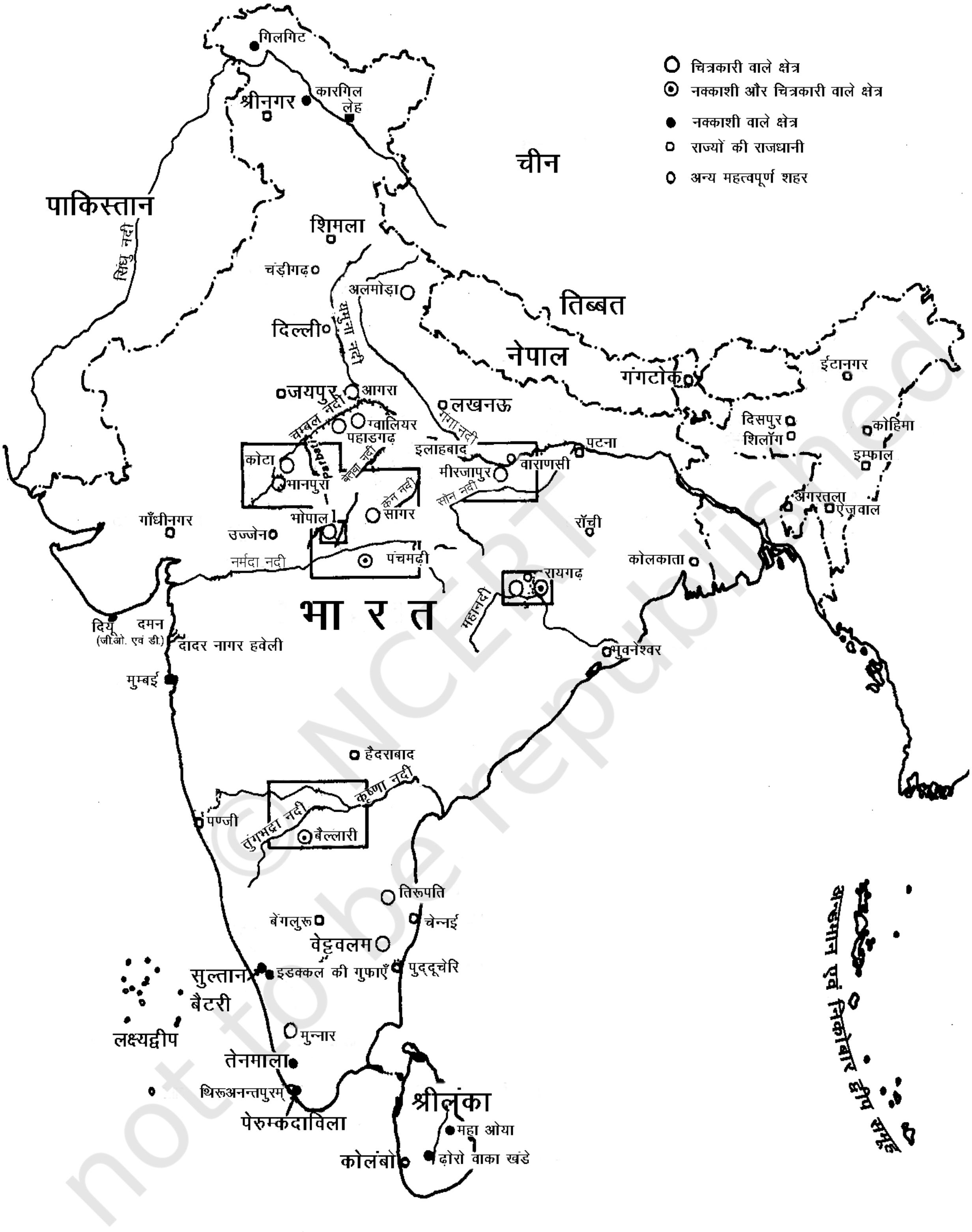

प्रागैतिहासिक स्थलों का मानचित्र

(नक्शे की बाहरी रेखा पैमाने में नही है)

© NCERT not to be republished

11148CH01

1
प्रागैतिहासिक शैल-चित्र

अत्यंत प्राचीन अतीत यानी बीते हुए काल को, जिसके लिए न तो कोई पुस्तक और न ही कोई लिखित दस्तावेज़ उपलब्ध है, उसे प्राक् इतिहास (Pre-history) कहा जाता है। पुस्तकें या दस्तावेज़ उपलब्ध होते भी कैसे? उस समय न तो कागज़ था, न ही कोई भाषा या लिखित शब्द। प्राक् इतिहास को हम अक्सर प्रागैतिहासिक काल (Pre-historic times) कहते हैं। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य कैसे रहता होगा, यह विश्वास करना तब तक बहुत कठिन बना रहा, जब तक कि विद्वानों ने उन स्थानों को खोजना शुरू नहीं कर दिया, जहाँ प्रागैतिहासिक काल के मनुष्य रहा करते थे। ऐसे स्थलों की खुदाई से पुराने औज़ारों, मिट्टी के बर्तनों, आवास स्थलों और उस काल के मनुष्यों तथा जानवरों की हड्डियों के अवशेष मिले हैं। इन चीज़ों से प्राप्त जानकारियों को और तत्कालीन मनुष्यों द्वारा गुफाओं की दीवारों पर खींची गई आकृतियों को एक साथ जोड़कर, विद्वानों ने एक अच्छा-खासा विवरण तैयार किया है। इससे यह जाना जा सकता है कि उस समय क्या होता था और प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य किस प्रकार रहा करते थे। जब मनुष्यों की खाना, पानी, कपड़ा तथा आवास संबंधी बुनियादी ज़रूरतें पूरी होने लगीं तो वे अपने विचारों तथा मनोभावों को अभिव्यक्त करने का भी प्रयास करने लगे। इसके लिए उन्होंने गुफाओं की दीवारों को आधार बनाकर चित्र और रेखाचित्र बनाने शुरू कर दिए और उनके माध्यम से अपने आपको यानी अपने भावों तथा विचारों को अभिव्यक्त करने लगे।

प्रागैतिहासिक काल के मानव ने इन चित्रों को क्यों खींचा? शायद उस समय के मनुष्यों ने अपने घरों को अधिक रंगीन और सुंदर बनाने के लिए ये भित्ति-चित्र बनाए अथवा यह भी हो सकता है कि उन्होंने अपने रोजमर्रा के जीवन का दृश्य-अभिलेख रखने के लिए ये चित्र खींचे, जैसे कि आजकल हम में से कुछ लोग अपनी डायरी लिखते हैं।

> मानव के आरंभिक विकास के इस प्रागैतिहासिक काल को आमतौर पर पुरापाषाण युग (Paleolithic Age) यानी पुराना पत्थर काल कहा जाता है।

प्रागैतिहासिक चित्रकारियाँ दुनिया के अनेक भागों में पाई गई हैं। हम वास्तव में यह नहीं जानते कि पूर्व-पुरापाषाण युग (Lower Paleolithic) के मनुष्यों ने क्या कभी कोई कला वस्तु बनाई थी। लेकिन हमें पता चलता है कि उत्तर पुरापाषाण काल (Upper Paleolithic Time) तक आते-आते मनुष्य के कलात्मक क्रियाकलापों में भारी वृद्धि

© NCERT not to be republished

हो गई थी। दुनियाभर में इस काल की ऐसी अनेक गुफाएँ पाई गई हैं जिनकी दीवारें उन जानवरों के सुंदर चित्रों से भरी पड़ी हैं, जिनका उन गुफाओं में रहने वाले लोग शिकार किया करते थे। वे लोग मनुष्यों और उनकी गतिविधियों के दृश्य चित्रित करते थे और वृत्त, वर्ग, आयत जैसी अनेक ज्यामितीय आकृतियाँ और प्रतीक भी बनाते थे। भारत में अब तक जो प्राचीनतम चित्र मिले हैं, वे उत्तर पुरापाषाण काल (Upper Paleolithic Time) के हैं।

यह जानना दिलचस्प होगा कि भारत में शैल-चित्रों की सर्वप्रथम खोज वर्ष 1867–68 में पुराविद् आर्किबोल्ड कार्लाइल ने स्पेन में हुई आल्तामीरा की खोज से भी 12 वर्ष पहले की थी। कॉकबर्न, एंडरसन, मित्र और घोष पहले अनुसंधानकर्ता थे जिन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप में ऐसे अनेक स्थल खोजे थे।

शैलचित्रों के अवशेष वर्तमान मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और बिहार के कई जिलों में स्थित गुफाओं की दीवारों पर पाए गए हैं। उत्तराखण्ड में कुमाऊँ की पहाड़ियों में भी कुछ शैल-चित्र मिले हैं। अल्मोड़ा बारेछिना मार्ग पर अल्मोड़ा से लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर सुयाल नदी के किनारे स्थित लखुडियार में पाए गए शैलाश्रयों में प्रागैतिहासिक काल के अनेक चित्र मिले हैं। लखुडियार का शाब्दिक अर्थ है एक लाख गुफाएँ। यहाँ पाए जाने वाले चित्रों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—मानव चित्र, पशु चित्र और ज्यामितीय आकृतियाँ। ये चित्र सफेद, काले और लाल रंगों के हैं। इनमें मनुष्यों को छड़ी जैसे रूप में दिखाया गया है। पशु चित्रों में, एक लंबे थूथन वाला जानवर, एक लोमड़ी और कई रंगों वाली छिपकली, चित्रकारी के मुख्य विषय हैं। लहरदार रेखाएँ, आयताकार ज्यामितीय डिज़ाइनों और अनेक बिंदुओं के समूह इन चित्रों में देखे जा सकते हैं। इन चित्रों में दर्शाए गए दृश्यों में से एक दृश्य अत्यंत आकर्षक है, जिसमें मानव आकृतियों को हाथ पकड़कर नाचते हुए दिखाया गया है। कुछ चित्र पहले से बने चित्रों पर बने पाए गए हैं। वहाँ सबसे पहले काले रंग के चित्र बनाए गए, फिर उन पर लाल रंग के चित्र और अंत में उन पर सफेद रंग के चित्र बने हुए पाए गए हैं। कश्मीर से

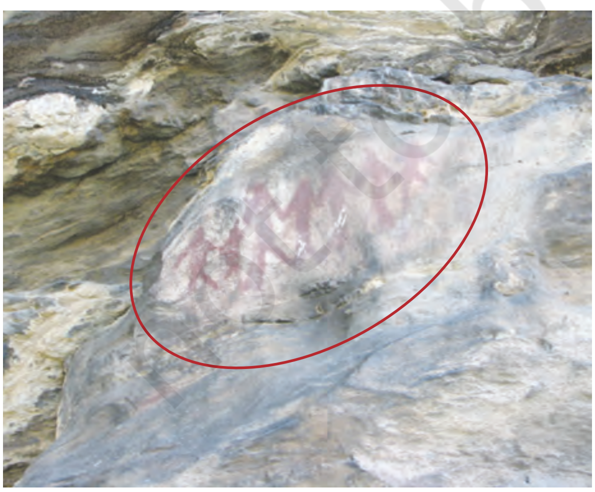

हाथों में हाथ डाले नृत्य करते हुए लोग, लखुडियार, उत्तराखण्ड

लहरदार लकीरें, लखुडियार, उत्तराखण्ड

© NCERT not to be republished

भी ऐसे दो शिलापट्ट मिले हैं, जिन पर कुछ चित्र उकेरे हुए हैं। आंध्र प्रदेश और कर्नाटक की ग्रेनाइट की चट्टानों ने नव पाषाण काल के मानव को अपने चित्र बनाने के लिए उपयुक्त कैन्वस दिया। यहाँ अनेक स्थलों पर ऐसे चित्र पाए जाते हैं। इनमें तीन स्थान अर्थात् कुपगल्लू, पिकलिहाल और टेक्कलकोटा अधिक प्रसिद्ध हैं। यहाँ तीन तरह के चित्र पाए जाते हैं। कुछ चित्र सफेद रंग के हैं, कुछ लाल रंग के और कुछ सफेद पृष्ठभूमि पर लाल रंग के। ये चित्र परवर्ती ऐतिहासिक काल, आरंभिक ऐतिहासिक काल और नवपाषाण काल के हैं। इन चित्रों के विषय हैं—साँड़, हाथी, सांभर, चिंकारा, भेड़, बकरी, घोड़ा, शैलकृत मानव, त्रिशूल आदि। वनस्पतियों के चित्र बहुत ही कम पाए जाते हैं। कुपगल्लू के एक चित्र में एक अत्यंत विचित्र दृश्य प्रस्तुत किया गया है जिसमें बड़े-बड़े अंगों वाले कामोद्दीप्त पुरुषों को स्त्रियों को भगाकर ले जाते हुए दिखाया गया है।

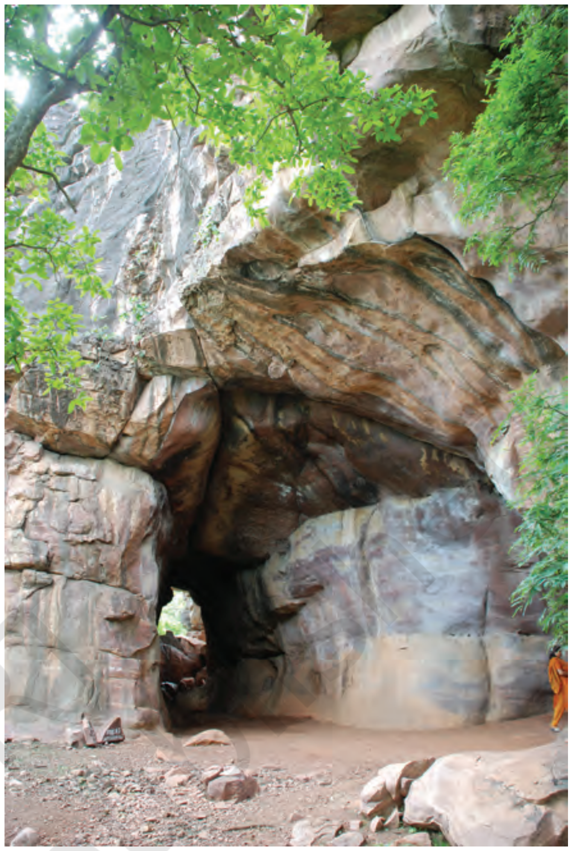
गुफ़ा द्वार, भीमबेटका, मध्य प्रदेश

परन्तु सबसे अधिक और सुन्दर शैल-चित्र मध्य प्रदेश में विंध्यांचल की श्रृंखलाओं और उत्तर प्रदेश में कैमूर की पहाड़ियों में मिले हैं। ये पहाड़ी श्रृंखलाएँ पुरापाषाण कालीन और मध्यपाषाण कालीन अवशेषों से भरी पड़ी हैं और वहाँ ऐसे जंगलों, जंगली पौधों, फलों, जलधाराओं और कंदराओं की बहुतायत है, जो पाषाण काल के लोगों के रहने के लिए हर तरह से उपयुक्त थीं। वहाँ के प्राकृतिक शैलाश्रय (चट्टानी आवास) वर्षा, बिजली की गरज, ठंड और चिलचिलाती धूप की गर्मी से बचने के लिए उन्हें पर्याप्त सहारा देते थे। इनमें सबसे बड़ा और अत्यंत दर्शनीय स्थल मध्य प्रदेश में विंध्यांचल की पहाड़ियों में स्थित भीमबेटका है। भीमबेटका मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल के दक्षिण में 45 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, जहाँ 10 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में लगभग 800 शैलाश्रय (शेल्टर) मौजूद हैं। इनमें से 500 शैलाश्रयों में चित्र पाए जाते हैं।

भीमबेटका की गुफाओं की खोज वर्ष 1957–58 में डॉ वी.ए. वाकणकर द्वारा की गई थी और बाद में अन्य अनुसंधानकर्ताओं ने भी उनका अनुसरण किया। वाकणकर ने इन चित्रों का अध्ययन करने के लिए वर्षों तक इन दुर्गम पहाड़ियों और जंगलों का सर्वेक्षण किया।

क्या आप बता सकते हैं कि चित्रकार इस चित्र में क्या दर्शाना चाहता है?

यहाँ पाए गए चित्रों के विषय अनेक प्रकार के हैं। इनमें उस समय की रोज़मर्रा की ज़िंदगी की घटनाओं के अलावा, धार्मिक एवं भव्य दृश्य भी चित्रित किए गए हैं, जिनमें शिकार, नृत्य, संगीत, हाथी-घोड़ों की सवारी, जानवरों की लड़ाई, शहद इकट्ठा करने, शरीर-सज्जा, छद्मवेष, मुखौटा लगाने जैसी अनेकानेक घरेलू गतिविधियों के चित्र शामिल हैं।

भीमबेटका की शैल-कला को शैली, तकनीक और आधार के अनुसार कई श्रेणियों में बाँटा गया है। रेखाचित्रों तथा चित्रकारियों को सात कालावधियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहला काल है उत्तर

© NCERT not to be republished

पुरापाषाण युग, दूसरा मध्यपाषाण युग और तीसरा है ताम्रपाषाण युग। इन तीन कालावधियों के बाद एक के बाद एक चार ऐतिहासिक कालावधियाँ आती हैं। लेकिन यहाँ हम पहले तीन कालों का ही विवेचन करेंगे।

उत्तर पुरापाषाण युग (अपर पैलिओलिथिक पीरियड)

उत्तर पुरापाषाण युग के चित्र हरी और गहरी लाल रेखाओं से बनाए गए हैं। इनमें से कुछ छड़ी जैसी पतली मानव आकृतियाँ हैं लेकिन अधिकांश चित्र बड़े-बड़े जानवरों, जैसे— भैंसों, हाथियों, बाघों, गैंडों और सूअरों के हैं। कुछ चित्र धवन चित्र (wash paintings) हैं। लेकिन अधिकांश चित्र ज्यामितीय आकृतियों से भरे हुए हैं। ऐसे चित्रों का शिकारियों से कोई संबंध नहीं दिखाया गया है। हरे चित्र नर्तकों के और लाल चित्र शिकारियों के हैं।

मध्यपाषाण युग (मेसोलिथिक पीरियड)

दूसरी कालावधि यानी मध्यपाषाण युग के चित्रों की संख्या सबसे अधिक है। इस अवधि के दौरान विषयों की संख्या कई गुना बढ़ गई, मगर चित्रों का आकार छोटा हो गया। शिकार के दृश्यों को प्रमुखता मिल गई। शिकार के दृश्यों में लोगों को समूह बनाकर काँटेदार भाले, नोकदार डंडे, तीर-कमान लेकर जानवरों का शिकार करते हुए दिखाया गया है। कुछ चित्रों में आदिमानवों को जाल-फंदे लेकर या गड्ढे आदि खोदकर जानवरों को पकड़ने की कोशिश करते हुए दिखाया गया है। शिकारियों को साधारण कपड़े और गहने पहने हुए चित्रित किया गया है। कुछ चित्रों में मनुष्यों को सुंदर कपड़ों में सजा हुआ और कुछ में मुखौटे पहने हुए भी दर्शाया गया है। कुछ चित्रों में हाथी, जंगली साँड़, बाघ, शेर, सूअर, बारहसिंगा, हिरन, तेंदुआ, चीता, गैंडा, मछली, मेढक, छिपकली, गिलहरी जैसे छोटे-बड़े जानवरों को और पक्षियों को भी चित्रित किया गया है। मध्यपाषाण काल के कलाकार जानवरों को चित्रित करना अधिक पसंद करते थे। कुछ चित्रों में जानवरों को मनुष्यों का पीछा करते हुए दिखाया गया है। कुछ और चित्रों में मनुष्यों द्वारा जानवरों का पीछा करके शिकार करते हुए दिखाया गया है। कुछ जानवरों के चित्रों में, विशेष रूप से शिकार के दृश्यों में, मनुष्यों को जानवरों से डरते हुए दिखाया गया है। लेकिन बहुत से चित्रों में मनुष्यों को जानवरों के प्रति प्यार और सौहार्द का भाव प्रदर्शित करते हुए भी चित्रित किया गया है तथा कुछ ऐसे भी चित्र हैं जिनमें प्रमुख रूप से जानवर ही उकेरे गए हैं।

केवल एक जानवर का चित्रांकन, भीमबेटका

यद्यपि जानवरों को प्राकृतिक अवस्था में ही चित्रित किया गया है मगर मनुष्यों को साज-सज्जा के साथ सुरुचिपूर्ण रीति से प्रस्तुत किया गया है। स्त्रियों को निर्वस्त्र और सवस्त्र दोनों ही रूपों में चित्रित किया गया है। इन चित्रों में बूढ़े व जवान सभी को समान रूप से स्थान दिया गया है। बच्चों को दौड़ते-भागते, उछलते-कूदते और खेलते हुए दर्शाया गया है। सामूहिक नृत्य इन चित्रों का आम विषय रहा है। परंतु ऐसे भी चित्र हैं जिनमें लोगों

© NCERT not to be republished

को पेड़ों से फल या शहद इकट्ठा करते हुए और स्त्रियों को अनाज पीसते हुए और खाना बनाते हुए दिखाया गया है। कुछ शैल-चित्रों में मनुष्यों, स्त्रियों और बच्चों को एक साथ दिखाया गया है, मानों वे एक ही परिवार के सदस्य हों। अनेक शैलाश्रयों में हम हाथ और मुट्ठी की छाप पाते हैं तो कुछ में अँगुली के सिरों के बने निशान।

जंगली जानवर का शिकार, भीमबेटका

जानवर की आकृति व्यक्ति के आकार से इतनी बड़ी क्यों है?

भीमबेटका के कलाकार अनेक रंगों का प्रयोग करते थे जिनमें काला, पीला, लाल, बैंगनी, भूरा, हरा और सफेद रंगों की विभिन्न रंगतें शामिल थीं लेकिन सफेद और लाल उनके अधिक पसंदीदा रंग थे। रंग और रंजक द्रव्य विभिन्न चट्टानों तथा खनिजों को कूट-पीस कर तैयार किए जाते थे। लाल रंग हिरमच (जिसे गेरू भी कहा जाता है) से बनाया जाता था। हरा रंग कैल्सेडोनी नामक पत्थर की हरी किस्म से तैयार किया जाता था तथा सफेद रंग संभवत: चूना पत्थर से बनाया जाता था। रंग बनाने के लिए पहले खनिज की चट्टान के टुकड़ों को कूट-पीस कर पाउडर जैसा बना लिया जाता था। फिर उसमें कुछ पानी और गाढ़ा या चिपचिपा पदार्थ, जैसे कि जानवरों की चर्बी या पेड़ों से निकाला गया गोंद या राल मिला लिया जाता था। इस प्रकार रंग तैयार हो जाने के बाद उससे पेड़ की पतली रेशेदार टहनियों से बने ब्रुश का प्रयोग करते हुए चित्र आदि बनाए जाते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि हज़ारों साल पहले बनाए गए इन चित्रों के रंग हवा-पानी की मार को झेलने के बाद आज भी बरकरार हैं। यह समझा जाता है कि ये रंग अब तक इसलिए अक्षुण्ण रहे क्योंकि चट्टानों की सतह पर जो ऑक्साइड मौजूद थे, उनके साथ इन रंगों की रासायनिक प्रतिक्रिया ने इन्हें स्थायी बना दिया।

यहाँ कलाकारों ने अपने चित्र इन शैलाश्रयों की सतहों, दीवारों और भीतरी छतों पर बनाए। कुछ चित्र तो ऐसी गुफ़ाओं या शैलाश्रयों से मिले हैं जहां लोग रहते थे। लेकिन कुछ चित्र ऐसी जगहों से भी मिले हैं जहां शायद लोग कभी रहे ही नहीं होंगे। संभवत: इन स्थानों का कोई धार्मिक महत्व रहा होगा। शैलाश्रयों में पाए गए कुछ अत्यंत सुंदर चित्र बहुत ऊँचे स्थान पर या शैलाश्रय की छत के पास बने हुए हैं। प्रश्न उठता है कि आदिकालीन मानवों ने चट्टानों में ऐसे असुविधाजनक स्थानों पर ये चित्र क्यों बनाए? शायद ये चित्र बहुत दूर से लोगों के ध्यान को आकर्षित करने के लिए ऊँचाई पर बनाए गए थे।

ये चित्र हालांकि बहुत पुराने जमाने के हैं पर इनमें चित्रात्मक गुणों एवं विशेषताओं की कोई कमी नहीं है। कार्य करने की प्रतिकूल परिस्थितियों, औज़ारों तथा सामग्रियों आदि की कमी होते हुए भी इन चित्रों में तत्कालीन पर्यावरण के सामान्य दृश्य आकर्षक रूप में प्रस्तुत किए गए हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के लोग बहुत साहसी थे और अपने जीवन का आनंद ले रहे थे। पशुओं को तो वास्तविकता से भी अधिक तगड़ा और रौबदार दिखाया गया है। यह भी प्रतीत होता है कि आदिकालीन कलाकारों में कहानी कहने-सुनने की गहरी रुचि थी। इन चित्रों में बड़े ही नाटकीय रूप से मनुष्यों और जानवरों को स्वयं को जीवित रखने के लिए संघर्षरत दिखाया गया है। एक दृश्य में कुछ लोगों को

शिकार का दृश्य

मध्यपाषाण युग के चित्रों में शिकार के दृश्य बहुलता में पाए जाते हैं। यह ऐसा ही एक दृश्य है जिसमें लोगों का एक समूह भैंसे को मारते हुए दिखाया गया है। कुछ घायल व्यक्तियों को इधर-उधर पड़ा दर्शाया गया है। ये चित्र अंकन की कला में श्रेष्ठता का प्रदर्शन करते हैं।

नृत्य का दृश्य

इस दृश्य में एक-दूसरे का हाथ पकड़कर नृत्य करती हुई आकृतियाँ दिखाई गई हैं। वस्तुत: यह एक ऐसा विषय है जिसे बार-बार दोहराया गया है। नृत्य का यह दृश्य हमें उत्तराखंड के लखुडियार के पाषाण दृश्य की याद दिलाता है।

not to be republished NCERT

जंगली साँड़ का शिकार करते हुए दिखाया गया है और इस प्रक्रिया के दौरान कुछ लोग घायल होकर इधर-उधर पड़े हैं। एक अन्य दृश्य में एक जानवर को मौत की पीड़ा से तड़पते

> आज भी अनेक आदिम जाति के लोग ऐसा व्यवहार करते हैं। वे जन्म, मृत्यु, वयस्कता-प्राप्ति और विवाह आदि के समय संपन्न की जाने वाली धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाओं को चट्टानों पर चित्रित या उत्कीर्णित करते हैं। वे शिकार हेतु जानवरों को आकर्षित करने के लिए मुखौटे पहनते हैं और उन्हें मार डालने के बाद खुशी से उनके चारों ओर नाचते-गाते हैं।

हुए और शिकारियों को खुशी से उसके चारों ओर नाचते हुए दिखाया गया है। ऐसे चित्रों से यह प्रकट होता है कि मनुष्यों में जानवरों पर अधिकार रखने का भाव पैदा हो गया था।

जहाँ अकेले जानवरों के चित्र बनाए गए हैं, उनमें आदिकालीन कलाकार की उत्कृष्ट चित्रण कला स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। ऐसे चित्रों में रंग-सामंजस्य और समानुपात दोनों का यथार्थ एवं संतुलित मिश्रण दिखाई देता है।

एक दिलचस्प बात यह है कि शैल-कला के अनेक स्थलों पर अक्सर नए चित्र पुराने चित्रों पर बनाए गए हैं। भीमबेटका में कुछ स्थानों पर चित्रों की 20 परतें तक हैं, जो एक-दूसरे पर बनाये गये हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि कलाकार एक ही स्थान पर बार-बार चित्र क्यों बनाते थे? इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि जब किसी कलाकार को अपनी रचना पसंद नहीं आती थी तो वह उस पर अपनी दूसरी रचना चित्रित कर लेता था। दूसरा कारण यह हो सकता है कि वे चित्र और स्थान पवित्र या विशिष्ट माने जाते थे और उन पर कलाकार बार-बार चित्र बनाते थे। यह भी संभव है कि भिन्न-भिन्न पीढ़ियों के लोगों ने भिन्न-भिन्न समय पर एक ही क्षेत्र में ये चित्र बनाए थे।

इन प्राक् ऐतिहासिक चित्रों से हमें तत्कालीन मनुष्यों, उनकी जीवन-शैली, उनका खान-पान, उनकी आदतों, उनकी दैनिक गतिविधियों और यहाँ तक कि उनके मन-मस्तिष्क तथा चिंतन को जानने-समझने में सहायता मिलती है। प्रागैतिहासिक काल के अवशेष, विशेष रूप से अनेक प्रकार के पत्थरों के हथियार, औजार, मिट्टी के खिलौने और हड्डियों के टुकड़े मानव सभ्यता के विकास के महान साक्ष्य हैं, तथापि उन सबसे अधिक महत्वपूर्ण तो ये शैल-चित्र हैं, जो आदिकालीन मानव हमारी अमूल्य धरोहर के रूप में हमारे लिए छोड़ गया है।

अभ्यास

1. आपके विचार से प्रागैतिहासिक काल के लोग अपने चित्रों के लिए विषयों का चयन/चुनाव किस प्रकार करते थे?
2. गुफ़ा चित्रों में मानव आकृतियों की अपेक्षा जानवरों की आकृतियाँ अधिक होने के क्या कारण रहे होंगे?
3. इस अध्याय में प्रागैतिहासिक काल के अनेक गुफ़ा चित्र दिए गए हैं। इनमें कौन सा चित्र आपको सबसे अधिक पसंद है और क्यों? उस चित्र का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।
4. भीमबेटका के अलावा और कौन-से प्रमुख स्थल हैं जहाँ से प्रागैतिहासिक चित्र पाए गए हैं? इन चित्रों के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर इनकी तस्वीरों या रेखाचित्रों के साथ, एक रिपोर्ट तैयार करें।
5. आज के समय में चित्र, ग्राफ़िक आदि बनाने के लिए दीवारों का सतह के रूप में किस प्रकार उपयोग किया जाता है?

© NCERT not to be republished

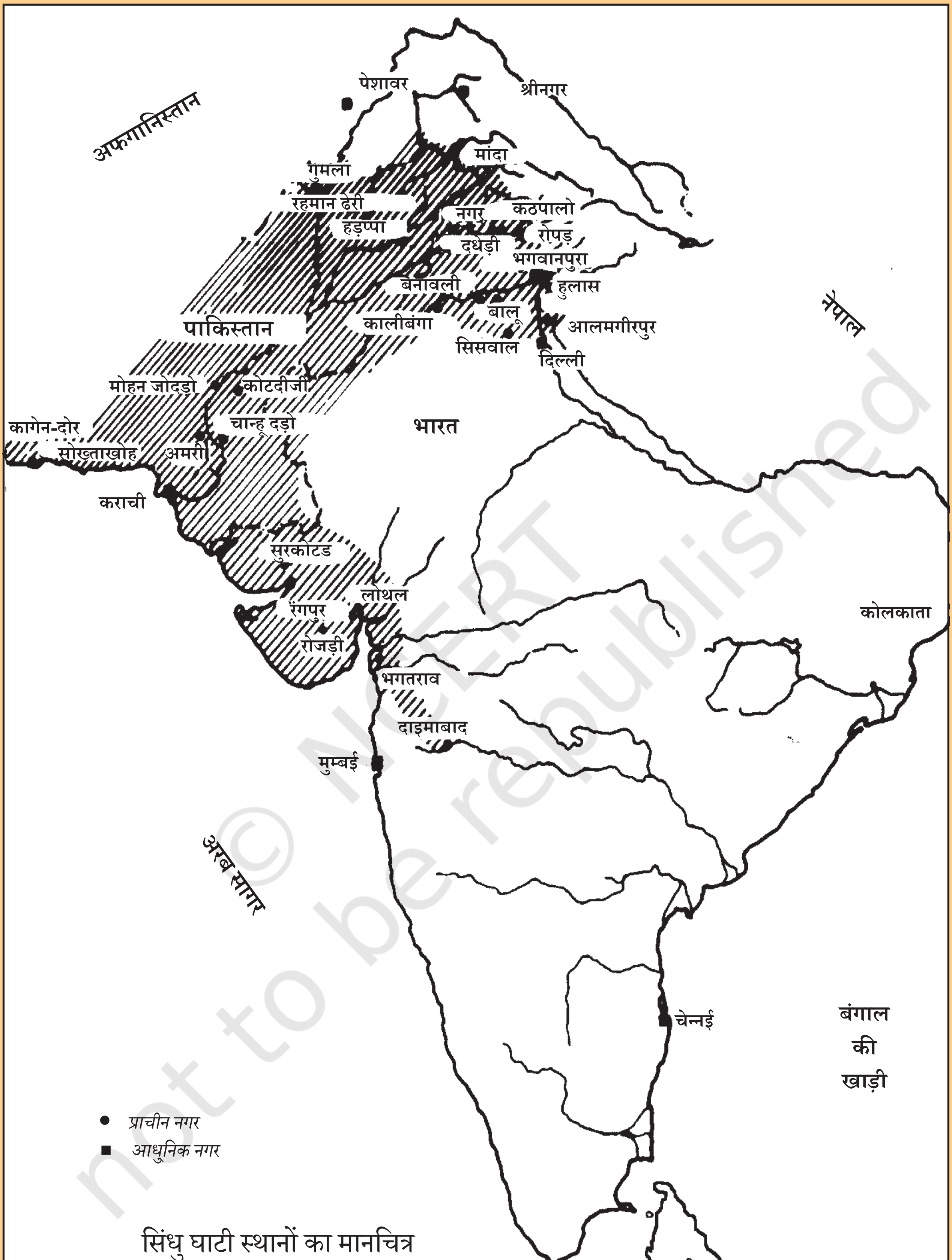

सिंधु घाटी स्थानों का मानचित्र
(नक्शे की बाहरी रेखा पैमाने में नहीं है)

2

सिंधु घाटी की कलाएँ

सिंधु नदी की घाटी में कला का उद्भव ईसा-पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। इस सभ्यता के विभिन्न स्थलों से कला के जो रूप प्राप्त हुए हैं, उनमें प्रतिमाएँ, मुहरें, मिट्टी के बर्तन, आभूषण, पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ आदि शामिल हैं। उस समय के कलाकारों में निश्चित रूप से उच्च कोटि की कलात्मक सूझ-बूझ और कल्पनाशक्ति विद्यमान थी। उनके द्वारा बनाई गई मनुष्यों तथा पशुओं की मूर्तियाँ अत्यंत स्वाभाविक किस्म की हैं क्योंकि उनमें अंगों की बनावट असली अंगों जैसी ही है। मृण्मूर्तियों में जानवरों की मूर्तियों का निर्माण बड़ी सूझ-बूझ और सावधानी के साथ किया गया था।

सिंधु घाटी सभ्यता के दो प्रमुख स्थल हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक दो नगर थे, जिनमें से हड़प्पा उत्तर में और मोहनजोदड़ो दक्षिण में सिंधु नदी के तट पर बसे हुये थे। ये दोनों नगर सुंदर नगर नियोजन की कला के प्राचीनतम उदाहरण थे। इन नगरों में रहने के मकान, बाजार, भंडार घर, कार्यालय, सार्वजनिक स्नानागार आदि सभी अत्यंत व्यवस्थित रूप से यथास्थान बनाए गए थे। इन नगरों में जल निकासी की व्यवस्था भी काफी विकसित थी। हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो इस समय पाकिस्तान में स्थित हैं। कुछ अन्य महत्वपूर्ण स्थलों से भी हमें कला-वस्तुओं के नमूने मिले हैं, जिनके नाम हैं—लोथल और धौलावीरा (गुजरात), राखीगढ़ी (हरियाणा), रोपड़ (पंजाब) तथा कालीबंगा (राजस्थान)।

पत्थर की मूर्तियाँ

हड़प्पाई स्थलों पर पाई गईं मूर्तियाँ, भले ही वे पत्थर, कांसे या मिट्टी की बनी हों, संख्या की दृष्टि से बहुत अधिक नहीं हैं पर कला की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में पाई गईं पत्थर की मूर्तियाँ त्रि-आयामी वस्तुएं बनाने का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पत्थर की मूर्तियों में दो पुरुष प्रतिमाएं बहुचर्चित हैं, जिनमें से एक पुरुष धड़ है, जो लाल चूना पत्थर का बना है और दूसरी दाढ़ी वाले पुरुष की आवक्ष मूर्ति है, जो सेलखड़ी की बनी है।

दाढ़ी वाले पुजारी की प्रतिमा

दाढ़ी वाले पुरुष को एक धार्मिक व्यक्ति माना जाता है। इस आवक्ष मूर्ति को शॉल ओढ़े हुए दिखाया गया है। शॉल बाएं कंधे के ऊपर से और दाहिनी भुजा के नीचे से डाली गई है। शॉल त्रिफुलिया नमूनों से सजी हुई है। आँखें कुछ लंबी और आधी बंद दिखाई गई हैं, मानों वह पुरुष ध्यानावस्थित हो। नाक सुंदर बनी हुई है और होंठ कुछ आगे निकले हुए हैं जिनके बीच की रेखा

© NCERT not to be republished

गहरी है। दाढ़ी-मूँछ और गलमुच्छें चेहरे पर उभरी हुई दिखाई गई हैं। कान सीप जैसे दिखाई देते हैं और उनके बीच में छेद हैं। बालों को बीच की मांग के द्वारा दो हिस्सों में बाँटा गया है और सिर के चारों ओर एक सादा बना हुआ फीता बंधा हुआ दिखाया गया है। दाहिनी भुजा पर एक बाजूबंद है और गर्दन के चारों ओर छोटे-छोटे छेद बने हैं जिससे लगता है कि वह हार पहने हुए है।

आज भी देश के कई भागों में कांसे की ढलाई की इस तकनीक से इस प्रकार के कार्य करने की परंपरा चली आ रही है।

कांसे की ढलाई

हड़प्पा के लोग कांसे की ढलाई बड़े पैमाने पर करते थे और इस काम में प्रवीण थे। इनकी कांस्य मूर्तियाँ कांसे को ढालकर बनाई जाती थीं। इस तकनीक के अंतर्गत सर्वप्रथम मोम की एक प्रतिमा या मूर्ति बनाई जाती थी। इसे चिकनी मिट्टी से पूरी तरह लीपकर सूखने के लिए छोड़ दिया जाता था। जब वह पूरी तरह सूख जाती थी तो उसे गर्म किया जाता था और उसके मिट्टी के आवरण में एक छोटा सा छेद बनाकर उस छेद के रास्ते सारा पिघला हुआ मोम बाहर निकाल दिया जाता था। इसके बाद चिकनी मिट्टी के खाली सांचे में उसी छेद के रास्ते पिघली हुई धातु भर दी जाती थी। जब वह धातु ठंडी होकर ठोस हो जाती थी तो चिकनी मिट्टी के आवरण को हटा दिया जाता था। कांस्य में मनुष्यों और जानवरों दोनों की ही मूर्तियाँ बनाई गई हैं। मानव मूर्तियों का सर्वोत्तम नमूना है एक लड़की की मूर्ति, जिसे नर्तकी के रूप में जाना जाता है। कांसे की बनी हुई जानवरों की मूर्तियों में भैंस और बकरी की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भैंस का सिर और कमर ऊँची उठी हुई है तथा सींग फैले हुए हैं। सिंधु सभ्यता के सभी केंद्रों में कांसे की ढलाई का काम बहुतायत में होता था। लोथल में पाया गया तांबे का कुत्ता और पक्षी तथा कालीबंगा में पाई गई साँड़ की कांस्य मूर्ति को हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में पाई गई ताँबे और कांसे की मानव मूर्तियों से किसी प्रकार भी कमतर नहीं कहा जा सकता।

मिट्टी से बनी आकृति

मृण्मूर्तियाँ (टेराकोटा)

सिंधु घाटी के लोग मिट्टी की मूर्तियाँ भी बनाते थे लेकिन वे पत्थर और कांसे की मूर्तियों जितनी बढ़िया नहीं होती थीं। सिंधु घाटी की मूर्तियों में मातृदेवी की प्रतिमाएं अधिक उल्लेखलीय हैं। कालीबंगा और लोथल में पाई गई नारी मूर्तियाँ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में पाई गई मातृदेवी की मूर्तियों से बहुत ही अलग तरह की हैं। मिट्टी की मूर्तियों में कुछ दाढ़ी-मूँछ वाले ऐसे पुरुषों की भी छोटी-छोटी मूर्तियाँ पाई गईं हैं, जिनके बाल गुंथे हुए (कुंडलित) हैं, जो एकदम सीधे खड़े हुए हैं, टांगें थोड़ी चौड़ी हैं और भुजाएं शरीर के समानांतर नीचे की ओर लटकी हुई हैं। ठीक ऐसी ही मुद्रा में मूर्तियाँ बार-बार पाई गईं हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि ये किसी देवता की मूर्तियाँ हैं। एक सींग वाले देवता का मिट्टी का बना मुखौटा भी मिला है। इनके अलावा, मिट्टी की बनी पहिएदार गाड़ियाँ, छकड़े, सीटियाँ, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, खेलने के पासे, गिट्टियाँ, चक्रिका (डिस्क) भी मिली हैं।

टेराकोटा के खिलौने

मुद्राएँ (मुहरें)

पुरातत्वविदों को हज़ारों की संख्या में मुहरें (मुद्राएं) मिली हैं, जो आमतौर पर सेलखड़ी और कभी-कभी गोमेद, चकमक पत्थर, तांबा, कांस्य और मिट्टी से बनाई गई थीं। उन पर एक सींग वाले साँड़, गैंडा, बाघ, हाथी, जंगली भैंसा, बकरा, भैंसा आदि पशुओं की सुंदर आकृतियाँ बनी हुई थीं। इन आकृतियों में प्रदर्शित विभिन्न स्वाभाविक मनोभावों की अभिव्यक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन मुद्राओं को तैयार करने का उद्देश्य मुख्यत: वाणिज्यिक था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मुद्राएं बाजूबंद के तौर पर भी कुछ लोगों द्वारा पहनी जाती थीं जिनसे उन व्यक्तियों की पहचान की जा सकती थी, जैसे कि आजकल लोग पहचान पत्र धारण करते हैं। हड़प्पा की मानक मुद्रा 2x2 इंच की वर्गाकार पटिया होती थी, जो आमतौर पर सेलखड़ी से बनाई जाती थी। प्रत्येक मुद्रा में एक चित्रात्मक लिपि खुदी होती थी जो अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। कुछ मुद्राएँ हाथीदांत की भी पाई गई हैं। मुद्राओं के डिज़ाइन अनेक प्रकार के होते थे पर अधिकांश में कोई जानवर, जैसे कि कूबड़दार या बिना कूबड़ वाला साँड़, हाथी, बाघ, बकरे और दैत्याकार जानवर बने होते हैं। उनमें कहीं-कहीं पेड़ों और मानवों की आकृतियाँ भी बनी पाई गई हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय एक ऐसी मुद्रा है जिसके केंद्र में एक मानव आकृति और उसके चारों

एक सिंघे की मुहर

पशुपति की मुहर

ओर कई जानवर बने हैं। इस मुद्रा को कुछ विद्वानों द्वारा पशुपति मुद्रा कहा जाता है (आकार 1/2 से 2 इंच तक के वर्ग या आयत के रूप में) जबकि कुछ अन्य इसे किसी देवी की आकृति मानते हैं। इस मुद्रा में एक मानव आकृति पालथी मारकर बैठी हुई दिखाई गई है। इस मानव आकृति के दाहिनी ओर एक हाथी और एक बाघ (शेर) है जबकि बाँयी ओर एक गैंडा और भैंसा दिखाए गए हैं। इन पशुओं के अलावा, स्टूल के नीचे दो बारहसिंगे हैं। इस तरह की मुद्राएं 2500 –1900 ई.पू. की हैं और ये सिंधु घाटी के प्राचीन नगर मोहनजोदड़ो जैसे अनेक पुरास्थलों पर बड़ी संख्या में पाई गई हैं। इनकी सतहों पर मानव और पशु आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

इन मुद्राओं के अलावा, तांबे की वर्गाकार या आयताकार पट्टियाँ (टैबलेट) पाई गई हैं, जिनमें एक ओर मानव आकृति और दूसरी ओर कोई अभिलेख अथवा दोनों ओर ही कोई अभिलेख है। इन पट्टियों पर आकृतियाँ और अभिलेख किसी नोकदार औजार (छेनी) से सावधानीपूर्वक काटकर अंकित किए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये ताम्रपट्टियाँ बाजूबंद की तरह भुजा पर बांधी जाती थीं। मुद्राओं पर अंकित अभिलेख हर मामले में अलग-अलग किस्म के होते थे, मगर इन ताम्रपट्टियों पर अंकित अभिलेख उन पशुओं से ही संबद्ध थे, जो उन पर चित्रित किए गए थे।

मृद्‌भाण्ड

इन पुरास्थलों से बड़ी संख्या में प्राप्त मृद्भांडों (मिट्टी के बर्तनों) की शक्ल सूरत तथा उन्हें बनाने की शैलियों से हमें तत्कालीन डिज़ाइनों के भिन्न-भिन्न रूपों तथा विषयों के विकास का पता चलता है। सिंधु

not to be republished

घाटी में पाए गए मिट्टी के बर्तन अधिकतर कुम्हार की चाक पर बनाए गए बर्तन हैं, हाथ से बनाए गए बर्तन नहीं। इनमें रंग किए हुए बर्तन कम और सादे बर्तन अधिक हैं। ये सादे बर्तन आमतौर पर लाल चिकनी मिट्टी के बने हैं। इनमें से कुछ पर सुंदर लाल या स्लेटी लेप लगी है। कुछ घुंडीदार पात्र हैं, जो घुंडियों की पंक्तियों से सजे हैं। काले रंगीन बर्तनों पर लाल लेप की एक सुंदर परत है, जिस पर चमकीले काले रंग से ज्यामितीय आकृतियाँ और पशुओं के डिज़ाइन बने हैं।

छिद्रित बर्तन

बहुरंगी मृद्भांड बहुत कम पाए गए हैं। इनमें मुख्यत: छोटे-छोटे कलश शामिल हैं जिन पर लाल, काले, हरे और कभी-कभार सफ़ेद तथा पीले रंगों में ज्यामितीय आकृतियाँ बनी हुई हैं। उत्कीर्णित बर्तन भी बहुत कम पाए गए हैं; और जो पाए गए हैं, उनमें उत्कीर्णन की सजावट पेंदे पर और बलि-स्तंभ की तश्तरियों तक ही सीमित थी। छिद्रित पात्रों में एक बड़ा छिद्र बर्तन के तल पर और छोटे छेद उनकी दीवार पर सर्वत्र पाए गए हैं। ऐसे बर्तन शायद पेय पदार्थों को छानने के काम में लाए जाते थे। घरेलू कामकाज में प्रयोग किए जाने वाले मिट्टी के बर्तन अनेक रूपों तथा आकारों में पाए गए हैं। सीधे और कोणीय रूपों वाले बर्तन अपवाद के तौर पर भले ही मिले हों, पर लगभग सभी बर्तनों में सुंदर मोड़ पाए गए हैं। छोटे-छोटे पात्र, जो अधिकतर आधे इंच से भी कम ऊंचाई वाले हैं, खासतौर पर इतने अधिक सुंदर बने हुए हैं कि कोई भी दर्शक उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहता।

मिट्टी के बर्तन

आभूषण

हड़प्पा के पुरुष और स्त्रियां अपने आपको तरह-तरह के आभूषणों से सजाते थे। ये गहने बहुमूल्य धातुओं और रत्नों से लेकर हड्डी और पकी हुई मिट्टी तक के बने होते थे। गले के हार, फीते, बाजूबंद और अंगूठियाँ आमतौर पर पुरुषों और स्त्रियों दोनों के द्वारा समान रूप से पहनी जाती थीं, पर करधनियाँ, बुंदे (कर्णफूल) और पैरों के कड़े या पैजनियाँ स्त्रियाँ ही पहना करती थीं। मोहनजोदड़ो और लोथल से ढेरों गहने मिले हैं, जिनमें सोने और मूल्यवान नगों के हार, तांबे के कड़े और मनके, सोने के कुंडल, बुंदे/झुमके और शीर्ष-आभूषण, लटकनें तथा बटनें और सेलखड़ी के मनके तथा बहुमूल्य रत्न शामिल हैं। सभी आभूषणों को सुंदर ढंग से बनाया गया है। यह ध्यान देने वाली बात है कि हरियाणा के फरमाना पुरास्थल पर एक कब्रिस्तान (शवाधान) पाया गया है, जहाँ शवों को गहनों के साथ दफनाया गया है।

चन्हुदड़ो और लोथल में पाई गई कार्यशालाओं से पता चलता है कि मनके बनाने का उद्योग काफी अधिक विकसित था। मनके कार्नीलियन, जमुनिया, सूर्यकांत, स्फटिक, कांचमणि, सेलखड़ी, फीरोज़ा, लाजवर्द मणि आदि के बने होते थे। इसके अलावा तांबा, कांसा और सोने जैसी धातुएँ और शंख-सीपियां और पकी मिट्टी भी मनके बनाने के काम में आती थीं। मनके तरह-तरह के रूप और आकार के होते थे—कोई तश्तरीनुमा, बेलनाकार, गोल या ढोलकाकार होता था तो कोई कई खंडों में विभाजित। कुछ मनके दो या अधिक पत्थरों के जोड़ से बने होते थे, कुछ पत्थर पर सोने का आवरण चढ़ा होता था, कुछ को काटकर या रंगकर सुंदर बनाया जाता था तो कुछ में तरह-तरह के नमूने खुदे होते थे। मनकों के निर्माण में अत्यधिक तकनीकी कुशलता का प्रयोग दर्शाया गया है।

हड़प्पा के लोग पशुओं, विशेष रूप से बंदरों और गिलहरियों के नमूने बनाते थे, जो एकदम असली जैसे दिखाई देते थे। इनका उपयोग पिन की नोक और मनकों के रूप में किया जाता था।

सिंधु घाटी के घरों में बड़ी संख्या में तकुए और तकुआ चक्रियां भी मिली हैं, जिससे पता चलता है कि उन दिनों कपास और ऊन की कताई बहुत प्रचलित थी। गरीब और अमीर दोनों तरह के लोगों में कताई का आम रिवाज था। यह तथ्य इस बात से उजागर होता है कि तकुए की चक्रियां मिट्टी तथा सीपियों की बनी हुई पाई गई हैं। पुरुष और स्त्रियाँ, धोती और शॉल जैसे दो अलग-अलग कपड़े पहनते थे। शॉल दाएं कंधे के नीचे से ले जाकर बाएं कंधे के ऊपर ओढ़ी जाती थी।

मोती एवं आभूषण

पुरातत्वीय खोजों में मिली चीजों से यह प्रतीत होता है कि सिंधु घाटी के लोग साज-सिंगार और फ़ैशन के प्रति काफ़ी जागरूक थे। उनमें केश-सज्जा की भिन्न-भिन्न शैलियां प्रचलित थीं। पुरुष दाढ़ी-मूँछ रखते थे। स्त्रियों सुंदर दिखने के लिए सिंदूर, काजल, लाली का प्रयोग करती थीं और चेहरे पर लेप लगाती थीं। धौलावीरा में पत्थरों के ढाँचों के अनेक अवशेष मिले हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि सिंधु घाटी के लोग अपने घर आदि के निर्माण में पत्थर का प्रयोग करते थे।

सिंधु घाटी के कलाकार एवं शिल्पकार अनेकों शिल्पों में अत्यधिक पारंगत थे जिनमें धातु का ढलाव, पत्थरों पर नक्काशी, मिट्टी के बर्तन बनाना और उन्हें रंगना एवं जानवरों, पौधों और पक्षियों के साधारण रूप को लेकर टेराकोटा का निर्माण मुख्य है।

टेराकोटा के खिलौने

अभ्यास

1. सिंधु सभ्यता के लोग कला-प्रेमी थे, इस कथन को न्यायोचित ठहराएं।
2. हड़प्पाई मृण्मूर्ति कला और आज प्रचलित मृण्मूर्ति कला में आप क्या समानताएं और भिन्नताएं पाते हैं?
3. मुद्राएं भिन्न-भिन्न प्रकार की सामग्रियों से बनाई जाती थीं। सिंधु घाटी की मुद्राओं के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए क्या आप किसी अन्य सामग्री से मुद्रा बनाना चाहेंगे? वे कौन-से पशु हैं जिनकी आकृतियाँ आप अपनी मुद्राओं पर बनाना चाहेंगे और क्यों?
4. सिंधु सभ्यता से प्राप्त कला संबंधी वस्तुओं से हमें उनके जीवन के विषय में क्या पता चलता है?
5. कल्पना कीजिए कि आप किसी संग्रहालय में संग्रहालय पाल (क्यूरेटर) के रूप में कार्य कर रहे हैं और आपको सिंधु कला के विषय में एक प्रदर्शनी बनानी है। सिंधु सभ्यता में उत्पादित और प्रयुक्त पत्थर, धातु और मिट्टी की बनी कम-से-कम 10 वस्तुओं के चित्र इकट्ठा करें और प्रदर्शनी बनाएं।

© NCERT not to be republished

नर्तकी की मूर्ति

सिंधु घाटी की कलाकृतियों में एक सर्वोत्कृष्ट कृति एक नाचती हुई लड़की यानी नर्तकी की कांस्य प्रतिमा है, जिसकी ऊँचाई लगभग चार इंच है। मोहनजोदड़ो में पाई गई यह मूर्ति तत्कालीन ढलाई कला का एक उत्तम नमूना है। नर्तकी की त्वचा का रंग सांवला दिखाया गया है। वह लगभग निर्वस्त्र है और उसके लंबे केश सिर के पीछे एक जूड़े के रूप में गुंथे हुए हैं। उसकी बाँई भुजा चूड़ियों में ढकी हुई है। वह अपनी दाँई भुजा के ऊपरी भाग में बाजूबंद और नीचे के भाग में कड़ा पहने हुए है। कौड़ियों से बना एक हार उसके गले की शोभा बढ़ा रहा है। उसका दाहिना हाथ उसकी कमर पर टिका है और बायाँ हाथ परंपरागत भारतीय नृत्य की मुद्रा में उसके घुटने से कुछ ऊपर बाँई जंघा पर टिका हुआ प्रतीत होता है। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और नाक चपटी है। यह आकृति भावाभिव्यक्ति और शारीरिक ऊर्जा से ओतप्रोत है और हमें बहुत कुछ कह रही है।

वृषभ प्रतिमा

मोहनजोदड़ो में पाई गई यह कांस्य प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें एक भारी भरकम वृषभ को आक्रामक मुद्रा में बखूबी प्रस्तुत किया गया है। वृषभ गुस्से में अपना सिर दाँई ओर घुमाए हुए है और उसके गले में एक रस्सा बंधा हुआ है।

पुरुष धड़

पुरुष धड़ की यह मूर्ति लाल बलुआ पत्थर की बनी है। इसमें सिर और भुजाएं जोड़ने के लिए गर्दन और कंधो में गड्ढे बने हुए हैं। धड़ के सामने वाले हिस्से को एक विशेष मुद्रा में सोच-समझकर बनाया गया है। कंधे अच्छे पके हुए हैं और पेट कुछ बाहर निकला हुआ है।

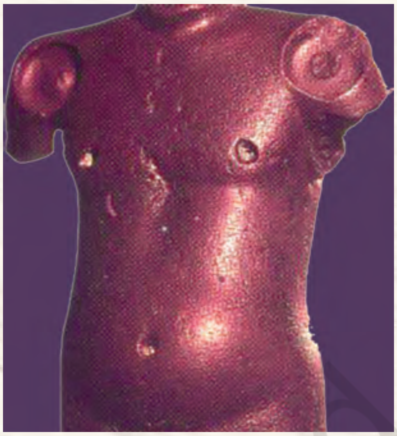

चित्रित मृद्भांड

मोहनजोदड़ो में पाया गया यह पात्र कुम्हार की चाक पर चिकनी मिट्टी से बना हुआ है। कुम्हार ने अपनी कुशल अंगुलियों की सहायता से उसे एक आकर्षक रूप दिया है। आग में पकाने के बाद इस मिट्टी के पात्र को काले रंग से रंगा गया था। इस पर बने हुए चित्र वनस्पतियों और ज्यामितीय आकृतियों के हैं। वैसे तो ये चित्र साधारण हैं लेकिन इनमें अमूर्तिकरण की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

मातृका

मातृका की मूर्तियों को आमतौर पर भद्दी अपरिष्कृत खड़ी मुद्रा में, उन्नत उरोजों पर हार लटकाए और कमर के चारों ओर एक अधोवस्त्र लपेटे हुए और करधनी पहने हुए दिखाया गया है। सिर पर पंखे जैसा आवरण और दोनों तरफ़ प्यालेनुमा उभार सिंधु घाटी की मातृ-देवी की प्रतिमाओं की एक आलंकारिक विशेषता है। इन आकृतियों की गोल-गोल आँखें और चोंच जैसी नाक बहुत भद्दी दिखाई देती है और उनका मुँह ऐसा लगता है कि जैसे चीरकर बनाया गया हो।

मौर्यकालीन स्थलों का मानचित्र

(नक्शे की बाहरी रेखा पैमाने में नहीं है)

3

मौर्य कालीन कला

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में गंगा की घाटी में बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में नए धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों की शुरूआत हुई। ये दोनों धर्म श्रमण परंपरा के अंग थे। दोनों धर्म जल्द ही लोकप्रिय हो गए क्योंकि वे सनातन धर्म की वर्ण एवं जाति व्यवस्था का विरोध करते थे। उस समय मगध एक शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरा और उसने अन्य राज्यों को अपने नियंत्रण में ले लिया। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक मौर्यों ने अपना प्रभुत्व जमा लिया था और ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी तक भारत का बहुत बड़ा हिस्सा मौर्यों के नियंत्रण में आ गया था। मौर्य सम्राटों में अशोक एक अत्यंत शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में बौद्धों की श्रमण परंपरा को संरक्षण दिया था। धार्मिक पद्धतियों के कई आयाम होते हैं और वे किसी एक पूजा विधि तक ही सीमित नहीं होतीं। उस समय यक्षों और मातृदेवियों की पूजा भी काफ़ी प्रचलित थी। इस प्रकार पूजा के अनेक रूप विद्यमान थे। तथापि इनमें से बौद्ध धर्म सबसे अधिक सामाजिक और धार्मिक आंदोलन के रूप में लोकप्रिय हो गया। यक्ष पूजा बौद्ध धर्म के आगमन से पहले और उसके बाद भी काफ़ी लोकप्रिय रही लेकिन आगे चलकर यह बौद्ध और जैन धर्मों में विलीन हो गई।

खंभे, मूर्तियाँ और शैलकृत वास्तुकला

मठ के संबंध में स्तूपों और विहारों का निर्माण इस श्रमण परंपरा का एक अंग हो गया। तथापि इस कालावधि में स्तूपों और विहारों के अलावा, अनेक स्थानों पर पत्थर के स्तंभ बनाए गए, चट्टानें काटकर गुफ़ाएं और विशाल मूर्तियाँ बनाई गईं। स्तंभ निर्माण की परंपरा बहुत पुरानी है और यह देखने में आया है कि एकैमेनियन साम्राज्य में भी विशाल स्तंभ बनाए जाते थे। लेकिन मौर्य कालीन स्तंभ एकैमेनियन स्तंभों से भिन्न किस्म के हैं। मौर्य कालीन स्तंभ चट्टानों से कटे हुए (एक विशाल पत्थर से बने हुए) स्तंभ हैं, जिनमें उत्कीर्णकर्ता कलाकार का कौशल स्पष्ट दिखाई देता है, जबकि एकैमिनियन स्तंभ राजमिस्त्री द्वारा अनेक टुकड़ों को जोड़कर बनाए गए थे। मौर्य काल में प्रस्तर स्तंभ संपूर्ण मौर्य साम्राज्य में कई स्थानों पर स्थापित किए गए थे और उन पर शिलालेख उत्कीर्ण किए गए थे। ऐसे स्तंभों की चोटी पर साँड़, शेर, हाथी जैसे जानवरों की आकृति उकेरी हुई है। सभी शीर्षाकृतियाँ हृष्ट-पुष्ट हैं और उन्हें एक वर्गाकार या गोल वेदी पर खड़ा उकेरा गया है। गोलाकार वेदियों को सुंदर कमल फूलों से सजाया गया है। शीर्षाकृतियों वाले प्रस्तर स्तंभों में से कुछ स्तंभ आज भी सुरक्षित हैं और बिहार में बसराह-बखीरा, लौरिया-नंदनगढ़ व रामपुरवा तथा उत्तर प्रदेश में सनकिसा व सारनाथ में देखे जा सकते हैं।

सजावटी कमल सहित स्तंभ एवं शीर्ष

सारनाथ में पाया गया मौर्य कालीन स्तंभ शीर्ष, जो सिंह शीर्ष के नाम से प्रसिद्ध है, मौर्य कालीन मूर्ति-परंपरा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यह आज हमारा राष्ट्रीय प्रतीक भी है। यह बड़ी सावधानी से उकेरा गया है। इसकी गोलाकार वेदी पर दहाड़ते हुए चार शेरों की बड़ी-बड़ी प्रतिमाएं स्थापित हैं और उस वेदी के निचले भाग में घोड़ा, साँड़, हिरन आदि को गतिमान मुद्रा में उकेरा गया है, जिसमें मूर्तिकार के उत्कृष्ट कौशल की साफ़ झलक दिखाई देती है। यह स्तंभ शीर्ष धम्म चक्र प्रवर्तन का मानक प्रतीक है और बुद्ध के जीवन की एक महान ऐतिहासिक घटना का द्योतक है।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में, यक्ष-यक्षिणियों और पशुओं की विशाल मूर्तियाँ बनाई गईं, शीर्षाकृतियों वाले प्रस्तर स्तम्भ बनाए व स्थापित किए गये और चट्टानों को काटकर गुफ़ाएं बनाई गईं। इनमें से अनेक स्मारक आज भी मौजूद हैं, जिनसे यक्ष पूजा की लोकप्रियता का पता चलता है और यह भी जाना जा सकता है कि यक्ष पूजा आगे चलकर किस तरह जैन धर्म और बौद्ध धर्म के स्मारकों में आकृति-प्रस्तुतीकरण का अंग बनी।

पटना, विदिशा और मथुरा जैसे अनेक स्थलों पर यक्षों तथा यक्षिणियों की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ पाई गई हैं। ये विशाल प्रतिमाएँ अधिकतर खड़ी स्थिति में दिखाई गई हैं। इन सभी प्रतिमाओं में एक विषेश तत्व यह है कि इनकी सतह पॉलिश की हुई यानी चिकनी है। इनके चेहरों पर प्रकृति विज्ञान की निपुणता एवं स्पष्टता दिखाई देती है और अन्य अंग-प्रत्यंग का उभार स्पष्ट दिखाई देता है। यक्षिणी की प्रतिमा का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण दीदारगंज, पटना में देखा जा सकता है। यह एक लंबी, ऊंची और सुगठित प्रतिमा है और इसे देखने से पता चलता है कि इसका निर्माता मानव रूपाकृति के चित्रण में कितना अधिक निपुण और संवेदनशील था। इस प्रतिमा की सतह चिकनी है।

पकी मिट्टी से बनी आकृतियों और इन प्रतिमाओं में चित्रण की दृष्टि से बहुत अंतर दिखाई देता है। ओडिशा में धौली स्थल पर चट्टान को काटकर बनाए गए विशाल हाथी की आकृति भी मूर्तिकला में रेखांकन लय पारखी की सुन्दरता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस पर सम्राट अशोक का एक शिलालेख भी अंकित है। ये सभी प्रतिमाएं आकृति के निरूपण के सुंदर उदाहरण हैं। बिहार में बाराबार की पहाड़ियों में शैलकृत गुफ़ा (चट्टान को काटकर बनाई गई गुफ़ा) है जिसे लोमष ऋषि की गुफ़ा कहते हैं। इस गुफ़ा का प्रवेश द्वार अर्द्धवृत्ताकार चैत्य चाप (मेहराब) की तरह सजा हुआ है। चैत्य के मेहराब पर एक गतिमान हाथी की प्रतिमा उकेरी हुई है। इस गुफ़ा का भीतरी कक्ष आयताकार है और उसके पीछे एक गोलाकार कक्ष है। प्रवेश द्वार बड़े कक्ष की एक तरफ़ की दीवार पर है। यह गुफ़ा मौर्य सम्राट अशोक द्वारा आजीविक पंथ/संप्रदाय के लिए संरक्षित की गई थी। लोमष ऋषि की गुफ़ा इस काल का एक अलग अकेला उदाहरण है मगर परवर्ती काल में पूर्वी और पश्चिमी भारत में अनेक बौद्ध गुफ़ाएँ खोदी गई थीं।

बौद्ध और जैन धर्मों की लोकप्रियता के कारण स्तूपों और विहारों का निर्माण बड़े पैमाने पर शुरू हो गया। किंतु अनेक उदाहरण ऐसे भी मिले हैं जिनसे पता चलता है कि सनातन धर्म/हिंदू धर्म के देवी-देवताओं की प्रतिमाएं भी बनती रहीं। यह जान लेना ज़रूरी होगा कि

यक्ष, परखम

© NCERT not to be republished

स्तूप अधिकतर बुद्ध के स्मृति चिन्हों (रेलिक्स) पर बनाए जाते थे। ऐसे अनेक स्तूप बिहार में राजगृह, वैशाली, वेथदीप एवं पावा, नेपाल में कपिलवस्तु, अल्लकप्पा एवं रामग्राम और उत्तर प्रदेश में कुशीनगर एवं पिप्पलिवान में स्थापित हैं। धार्मिक ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि बुद्ध के अनेक अवशेषों पर भी स्तूप बनाए जाते थे। ऐसे स्तूप अवंती और गांधार जैसे स्थानों पर बने हुए हैं, जो गंगा की घाटी से बाहर बसे हुए थे।

स्तूप, विहार और चैत्य, बौद्धों और जैनों के मठीय संकुलों (परिसर) के भाग हैं लेकिन इनमें से अधिकांश भवन/प्रतिष्ठान बौद्ध धर्म के हैं। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की स्तरीय संरचना का एक उदाहरण राजस्थान में बैराठ स्थल पर स्थित स्तूप है। साँची का महान स्तूप (जिस पर आगे चर्चा की जाएगी) अशोक के शासन काल में ईंटों से बनाया गया था और बाद में उसे पत्थर से भी ढक दिया गया और नई-नई चीजें भी लगा दी गईं।

कालांतर में ऐसे बहुत-से स्तूप बनाए गए जिनसे बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का पता चलता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के दौरान और उसके बाद हमें ऐसे अनेक अभिलेखीय साक्ष्य मिले हैं जिनमें दानदाताओं का नाम और कहीं-कहीं तो उनके पेशे का नाम भी दिया गया है। इन स्तूपों और राजसी संरक्षण के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। संरक्षकों में आम भक्तों से लेकर गहपति (गृहपति) और राजा महाराजा भी शामिल थे। कई स्थलों पर श्रेष्ठजनों या व्यापारिक श्रेणियों द्वारा दिए गए दानों का भी उल्लेख मिलता है। लेकिन ऐसे अभिलेख बहुत कम पाए गए हैं जिनमें कलाकारों या शिल्पकारों का भी नाम दिया गया हो। अलबत्ता, महाराष्ट्र में पीतलखोड़ा गुफा में कलाकार कान्हा और कोंडाने गुफ़ा में उसके शिष्य बालक का नाम अवश्य उल्लिखित है। कुछ अभिलेखों/शिलालेखों में शिल्पकारों की श्रेणियों, जैसे प्रस्तर उत्कीर्णक, स्वर्णकार, पत्थर घिसने और चमकाने वाले, बढ़ई आदि का भी उल्लेख है। आमतौर पर संपूर्ण कार्य सामूहिक सहयोग से किया जाता था, लेकिन कहीं-कहीं स्मारक के किसी खास हिस्से का निर्माण किसी खास संरक्षक के सौजन्य से कराए जाने का भी उल्लेख पाया गया है। व्यापारी जन अपने दान का अभिलेख लिखवाते समय अपने मूल स्थान का भी उल्लेख करवाते थे।

हाथी, धौली

लोमष ऋषि, गुफा-द्वार

सिंह शीर्ष, सारनाथ

© not to be republished

वाराणसी के निकट सारनाथ में लगभग एक सौ वर्ष पहले खोजे गए सिंह शीर्ष (Lion Capital) को आमतौर पर सारनाथ सिंह शीर्ष कहा जाता है। यह मौर्य कालीन मूर्तिकला का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यह भगवान बुद्ध द्वारा धम्मचक्रप्रवर्तन यानी प्रथम उपदेश देने की ऐतिहासिक घटना की स्मृति में सम्राट अशोक द्वारा बनवाया गया था।

इस सिंह शीर्ष के मूलत: पाँच अवयव/भाग थे—(i) स्तंभ (शैफ्ट) जो अब कई भागों में टूट चुका है; (ii) एक कमल घंटिका आधार; (iii) उस पर बना हुआ एक ढोल, जिसमें चार पशु दक्षिणावर्त गति के साथ दिखाए गए हैं; (iv) चार तेजस्वी सिंहों की आगे-पीछे जुड़ी हुई आकृतियाँ; और (v) एक सर्वोपरि तल धर्मचक्र, जोकि एक बड़ा पहिया है। यह चक्र इस समय टूटी हालत में है और सारनाथ के स्थलीय संग्रहालय में प्रदर्शित है। इस सिंह शीर्ष को, उपरिचक्र और कमलाधार के बिना, स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में अपनाया गया है।

अब सारनाथ के पुरातत्व संग्रहालय मे सुरक्षित रखे गए इस सिंह शीर्ष पर बनी एक वेदी पर चार सिंह एक दूसरे से पीठ जोड़कर बैठाए गए हैं। शेरों की ये चारों आकृतियाँ अत्यंत प्रभावशाली एवं ठोस हैं। प्रतिमा की स्मारकीय विशेषता स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। शेरों के चेहरे का पेशी विन्यास बहुत सुदृढ़ प्रतीत होता है। होंठों की विपर्यस्त रेखाएं और होंठों के अंत में उनके फैलाव का प्रभाव यह दर्शाता है कि कलाकार की अपनी सूक्ष्म दृष्टि शेर के मुख का स्वाभाविक चित्रण करने में सफल रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों शेरों ने अपनी सांस भीतर रोक रखी है। अयाल (केसर) की रेखाएं तीखी हैं और उनमें उस समय प्रचलित परंपराओं का पालन किया गया है। प्रतिमा की सतह को अत्यधिक चिकना या पॉलिश किया हुआ बनाया गया है, जोकि मौर्य कालीन मूर्तिकला की एक खास विशेषता है। शेरों की घुंघराली अयाल राशि आगे निकली हुई दिखाई गई है। शेरों के शरीर के भारी बोझ को पैरों की फैली हुई मांसपेशियों के माध्यम से बखूबी दर्शाया गया है। शीर्षफलक (abacus) पर एक चक्र बना हुआ है जिसमें चारों दिशाओं में फैले हुए कुल मिलाकर 24 आरे हैं और प्रत्येक चक्र के साथ साँड़, घोड़ा, हाथी और शेर की आकृतियाँ सुंदरता से उकेरी गई हैं। चक्र का यह स्वरूप संपूर्ण बौद्ध कला में धम्मचक्र के निरूपण के लिए महत्वपूर्ण बन गया। प्रत्येक पशु आकृति सतह से जुड़ी होने के बावजूद काफी विस्तृत है। उनकी मुद्रा शीर्ष फलक पर गतिमान प्रतीत होती है। प्रत्येक चक्र के बीच में सीमित स्थान होने के बावजूद इन पशु आकृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार में सीमित स्थान में भी दर्शाने की पर्याप्त क्षमता थी। वृत्ताकार शीर्ष फलक एक उल्टे कमल की आकृति पर टिका हुआ दिखाई देता है। कमल पुष्प की प्रत्येक पंखुड़ी को उसकी सघनता को ध्यान में रखते हुए बनाया गया है। नीचे के हिस्से में वक्र तलों को सुंदरता से उकेरा गया है। एक स्तंभ की आकृति होने के कारण, यह समझा गया था कि इसे चारों ओर से देखा जाएगा इसलिए दृष्टि बिंदुओं की कोई निश्चित सीमाएं नहीं रखी गई हैं। सिंह शीर्ष साँची में भी पाया गया है पर वह टूटी-फूटी हालत में है। सिंह शीर्ष वाले स्तंभ बनाने का क्रम परवर्ती काल में भी जारी रहा।

यक्षिणी, दीदारगंज

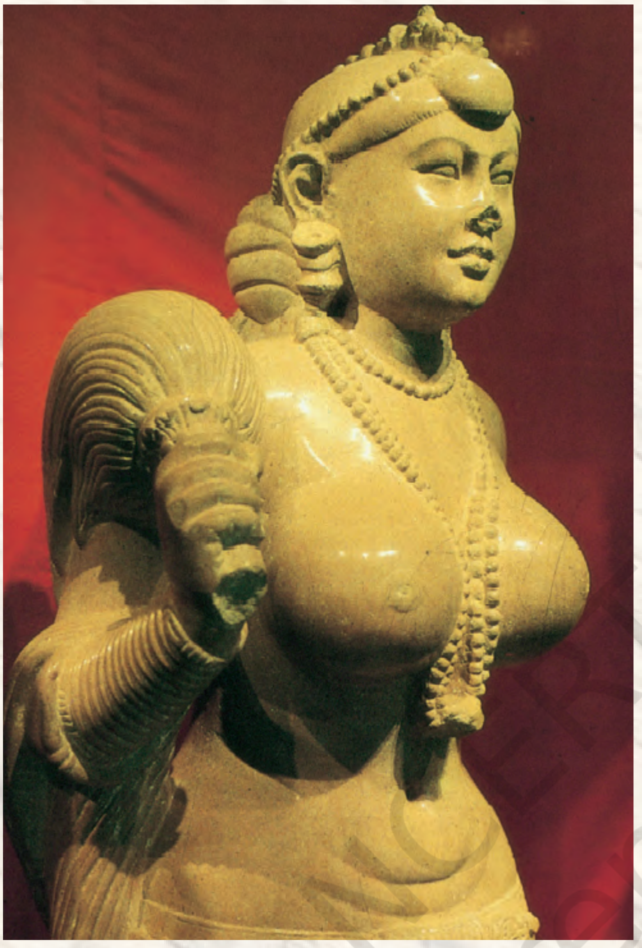

हाथ में चामर (चौरी) पकड़े खड़ी यक्षिणी की जो आदमकद मूर्ति आधुनिक पटना के दीदारगंज में मिली है, वह भी मौर्य कालीन मूर्तिकला की परंपरा का एक अच्छा उदाहरण है। यह मूर्ति पटना संग्रहालय में रखी हुई है। यह लंबी मूर्ति बलुआ पत्थर की बनी है। इसका अंगविन्यास संतुलित एवं समानुपातिक है। इसकी सतह पॉलिश की हुई (चिकनी) है। यक्षिणी को दाहिने हाथ में चौरी पकड़े हुए दिखाया गया है। इसका दूसरा हाथ टूटा हुआ है। इस प्रतिमा में रूप और माध्यम के प्रयोग में कुशलता बरती गई है। गोल गठीली काया के प्रति मूर्तिकार की संवेदनशीलता स्पष्टत: दृष्टि-गोचर होती है। चेहरा एवं कपोल गोल-गोल और मांसल दिखाए गए हैं लेकिन गर्दन अपेक्षाकृत छोटी है। यक्षिणी गले में हार पहने हुए है, जो पेट तक लटका हुआ है। पेट पर पहनी हुई चुस्त पोशाक के कारण पेट आगे निकला हुआ प्रतीत होता है। अधोवस्त्र को बड़ी सावधानी से बनाया गया है। टांगों पर पोशाक का हर मोड़ बाहर निकला हुआ दिखाया गया है, जो कुछ पारदर्शी प्रभाव उत्पन्न करता है। पोशाक की मध्यवर्ती पट्टी ऊपर से नीचे तक उसकी टांगों तक गिर रही है। वह पैरों में मोटे वजन वाले आभूषण पहने हुए है और अपनी टांगों पर मजबूती से खड़ी है। धड़ भाग का भारीपन उसके भारी उरोजों में दृष्टि-गोचर होता है। सिर के पीछे केशराशि एक गांठ में बंधी है। पीठ खुली है, पीछे का वस्त्र दोनों टांगों को ढकता है। दाहिने हाथ में पकड़ी हुई चौरी को प्रतिमा की पीठ पर फटी हुई रेखाओं के रूप में दिखाया गया है।

स्तूप आराधना, भरहुत

परवर्ती शताब्दी के स्तूपों में और बहुत-सी सुविधाएं जोड़ दी गईं, जैसे कि प्रतिमाओं से अलंकृत घिरे हुए परिक्रमा पथ। ऐसे अनेक स्तूप भी हैं जिनका निर्माण मूल रूप से तो पहले किया गया था पर आगे चलकर दूसरी शताब्दी में उनमें कुछ और नए निर्माण जोड़ दिए गए। स्तूप में एक बेलनाकार ढोल, एक वृत्ताकार अंडा और चोटी पर एक हर्मिक और छत्र होता है। ये भाग/हिस्से सदा ज्यों के त्यों रहे हैं लेकिन आगे चलकर इनके रूप और आकार में थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया गया। गोलाकार परिक्रमा पथ के अलावा प्रवेश द्वार भी जोड़े गए। इस प्रकार, स्तूप स्थापत्य में वास्तुकारों तथा मूर्तिकारों के लिए अपना कौशल दिखाने की काफ़ी गुंजाइश होती है और वे उनमें यथावश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन कर सकते हैं और नई-नई प्रतिमाएँ उकेर सकते हैं।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तक हमें बुद्ध की प्रतिमाओं या आकृतियों के दर्शन नहीं होते। बुद्ध को प्रतीकों, जैसे कि पदचिह्नों, स्तूपों, कमलसिंहासन, चक्र आदि के रूप में ही दर्शाया गया है। यह दर्शाता है कि इस समय तक पूजा या आराधना की पद्धति सरल थी और कभी-कभी उनके जीवन की घटनाओं को चित्रात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाता था। जातक कथा या बुद्ध के जीवन की किसी घटना का वर्णन बौद्ध परंपरा का अभिन्न अंग बन गया था। जातक कथाएँ स्तूपों के परिक्रमा पथों और तोरण द्वारों पर चित्रित की गई हैं। चित्रात्मक परंपरा में मुख्य रूप से संक्षेप आख्यान, सतत आख्यान और घटनात्मक आख्यान पद्धति का प्रयोग किया जाता है। वैसे तो सभी बौद्ध स्मारकों में मुख्य विषय बुद्ध के जीवन की घटनाएँ ही हैं, लेकिन मूर्तियों या आकृतियों से सजावट करने के मामले में जातक कथाएँ भी समान रूप से महत्वपूर्ण रही हैं। बुद्ध के जीवन से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं पर उनमें से अक्सर बुद्ध के जन्म, गृह त्याग, ज्ञान (बुद्धत्व) प्राप्ति, धम्मचक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण (जन्म चक्र से मुक्ति) की घटनाओं को ही अक्सर चित्रित किया गया है। जिन जातक कथाओं का अक्सर अनेक स्थानों पर बार-बार चित्रण दर्शाया गया है, वे मुख्य रूप से छदंत जातक, विदुरपंडित जातक, रूरू जातक, सिबि जातक, वेस्सांतर जातक और शम जातक से हैं।

अभ्यास

1. क्या आप यह सोचते हैं कि भारत में प्रतिमाएँ/मूर्तियाँ बनाने की कला मौर्य काल मे शुरू हो गई थी? इस संबंध में आपके क्या विचार हैं, उदाहरण सहित लिखें।
2. स्तूप का क्या महत्व था और स्तूप वास्तुकला का विकास कैसे हुआ?
3. बुद्ध के जीवन की वे चार घटनाएं कौन-सी थीं जिन्हें बौद्ध कला के भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित किया गया है, ये घटनाएं किस बात का प्रतीक थीं?
4. जातक क्या है? जातकों का बौद्ध धर्म से क्या संबंध है? पता लगाइए।

© NCERT not to be republished

4

भारतीय कला और स्थापत्य में मौर्योत्तर कालीन प्रवृत्तियाँ

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद अनेक शासकों ने विशाल मौर्य साम्राज्य में अलग-अलग हिस्सों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। इनमें उत्तर भारत में और मध्य भारत के कुछ हिस्सों में शुंग, कण्व, कुशाण और गुप्त शासकों ने अपना आधिपत्य जमा लिया तो दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में सातवाहनों, इक्ष्वाकुओं, अभीरों और वाकाटकों ने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। संयोगवश, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सनातन धर्म के दो मुख्य संप्रदायों—वैष्णव धर्म और शैव धर्म—का भी उदय हुआ। भारत में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के ऐसे अनेक स्थल हैं जिनका उल्लेख करना विषय की दृष्टि से उपयुक्त होगा। मूर्तिकला के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण (नमूने) विदिशा, भरहुत (मध्य प्रदेश), बोधगया (बिहार), जगय्यपेट (आन्ध्र प्रदेश), मथुरा (उत्तर प्रदेश), खंडगिरि-उदयगिरि (ओडिशा), भज (पुणे के निकट) और पावनी (नागपुर के निकट), महाराष्ट्र में पाए गए हैं।

यक्षिणी, भरहुत

भरहुत

भरहुत में पाई गईं मूर्तियाँ मौर्य कालीन यक्ष और यक्षिणी की प्रतिमाओं की तरह दीर्घाकार (लंबी) हैं। प्रतिमाओं के आयतन के निर्माण में कम उभार है लेकिन रैखिकता का ध्यान रखा गया है। आकृतियाँ चित्र की सतह से ज्यादा उभरी नहीं हैं। आख्यानात्मक उभार में तीन आयामों का भ्रम एक ओर झुके हुए परिप्रेक्ष्य के साथ दर्शाया गया है। आख्यान में स्पष्टत: मुख्य-मुख्य घटनाओं के चुनाव से बढ़ गई है। भरहुत में आख्यान फलक अपेक्षाकृत कम पात्रों के साथ दिखाए गए हैं, लेकिन ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ता जाता है, कहानी के मुख्य पात्रों के अलावा अन्य पात्र भी चित्र की परिधि में प्रकट होने लगते हैं। कभी-कभी एक भौगोलिक स्थान पर अधिक घटनाएँ चित्र की परिधि में एक साथ चित्रित की गई हैं, जबकि कहीं-कहीं एक घटना को संपूर्ण चित्र में चित्रित किया गया है।

मूर्तिकारों द्वारा उपलब्ध स्थान का अधिकतम उपयोग किया गया है। आख्यान/कथानक में यक्ष तथा यक्षिणियों के जुड़े हुए हाथ की तथा अकेली आकृतियों में हाथों को चपटा और छाती से लगा हुआ दिखाया गया है। लेकिन कुछ मामलों में, खासतौर पर बाद वाले समय में, हाथों को सहज रूप में छाती से आगे बढ़ा हुआ दिखाया गया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि कलाशिल्पियों को, जोकि सामूहिक स्तर पर काम करते थे, उत्कीर्णन की विधि को समझना कितना ज़रूरी होता था। प्रारंभ में, सतह को तैयार करना प्रमुख कार्य होता था और उसके बाद मानव शरीर तथा अन्य रूपों को उकेरा या बनाया जाता

© NCERT not to be republished

था। चित्र की सतह के छिछले उत्कीर्णन के कारण हाथों और पैरों को बाहर निकला हुआ दिखाना संभव नहीं था, इसीलिए हाथों को जुड़ा हुआ और पैरों को बढ़ा हुआ दिखाया गया है। शरीर ज्यादातर कड़ा तथा तना हुआ दिखाई पड़ता है और भुजाएँ व पैर शरीर के साथ-साथ चिपके हुए से दिखाए गए हैं। किन्तु आगे चलकर ऐसी दृश्य प्रस्तुति में संशोधन कर दिया गया। आकृतियों का उत्कीर्णन गहरा होने लगा और आयतन बढ़ गया जिससे मनुष्यों तथा जानवरों के शरीर का प्रतिरूपण असली जैसा होने लगा। भरहुत, बोधगया, साँची स्तूप-2 और जगय्यपेट में पाई गई मूर्तियाँ इस शैली के अच्छे उदाहरण हैं।

भरहुत की आख्यान उद्धृतियों (रिलीफ) से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि कलाशिल्पी अपनी चित्रात्मक भाषा के माध्यम से कितने अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी कहानियाँ कह सकते थे। एक ऐसी ही आख्यान उद्धृति में सिद्धार्थ गौतम की माता महारानी मायादेवी के एक स्वप्न की घटना को दिखाया गया है। इसमें महारानी की आकृति को लेटी अवस्था में और एक हाथी को ऊपर से उतरकर महारानी मायादेवी की कोख (गर्भाशय) की ओर बढ़ते हुए दिखाया गया है। दूसरी ओर, जातक कथाओं का चित्रण बड़े सरल तरीके से किया गया है। उनमें कथा के भौगोलिक स्थल के अनुसार घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है, जैसे—रूरू जातक में बोधिसत्व हिरन को एक आदमी की जान बचाने के लिए उसे अपनी पीठ पर ले जाते हुए दिखाया गया है। इसी चित्र में एक अन्य घटना में एक राजा को अपनी सेना के साथ खड़ा हुआ दिखाया गया है। राजा हिरन पर तीर छोड़ने ही वाला है और जिस आदमी की हिरन ने रक्षा की थी, उसे भी राजा के साथ खड़े हुए अपनी अंगुली से हिरन की ओर इशारा करते हुए दिखाया गया है। कथा के अनुसार, आदमी ने बचाए जाने के बाद हिरन को वचन दिया था कि वह किसी भी व्यक्ति को उसकी पहचान नहीं

जातक, भरहुत

महारानी माया का स्वप्न, भरहुत

© NCERT not to be republished

बताएगा लेकिन जब राजा हिरन की पहचान बताने वाले को पुरस्कार देने की घोषणा करता है तो वह आदमी अपने वचनों से फिर जाता है और राजा को उसी जंगल में ले जाता है, जहाँ हिरन ने उसकी जान बचाई थी। ऐसी जातक कथाएँ स्तूपों को अलंकृत करने के लिए उपयोग में लाई गईं हैं। यह जान लेना भी दिलचस्प होगा कि विभिन्न प्रदेशों में ज्यों-ज्यों स्तूपों का निर्माण बढ़ता गया, उनकी शैलियों में भी अंतर आने लगे। ईसा पूर्व पहली और दूसरी शताब्दियों की सभी पुरुष प्रतिमाओं में केश सज्जा को गुंथे हुए दिखाया गया है। कुछ मूर्तियों में तो यह सब जगह एक-सी पाई जाती है। भरहुत में पाई गईं कुछ मूर्तियाँ आज भारतीय संग्रहालय, कोलकाता में सुरक्षित रखी देखी जा सकती हैं।

साँची का स्तूप

मूर्तिकला के विकास के अगले चरण को साँची के स्तूप-1, मथुरा और आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले के वेन्गी स्थान पर पाई जाने वाली मूर्तियों में देखा जा सकता है। यह चरण शैलीगत प्रगति की दृष्टि से उल्लेखनीय है। साँची के स्तूप-1 में ऊपर और नीचे दो प्रदक्षिणा पथ हैं। इसके चार तोरण हैं जो सुंदरता से सजे हुए हैं। इन तोरणों पर बुद्ध के जीवन की घटनाओं और जातक कथाओं के अनेक प्रसंगों को प्रस्तुत किया गया है। प्रतिमाओं का संयोजन अधिक उभारदार है और संपूर्ण अंतराल में भरा हुआ है। हाव-भाव और शारीरिक मुद्राओं का प्रस्तुतीकरण स्वाभाविक है और शरीर के अंग-प्रत्यंग में कोई कठोरता नहीं दिखाई देती। सिर काफ़ी उठे हुए हैं। बाहरी रेखाओं की कठोरता/अनम्यता कम हो गई है। आकृतियों को गति दे दी गई है। आख्यान में विस्तार आ गया है। उकेरने की तकनीकें भरहुत की तुलना

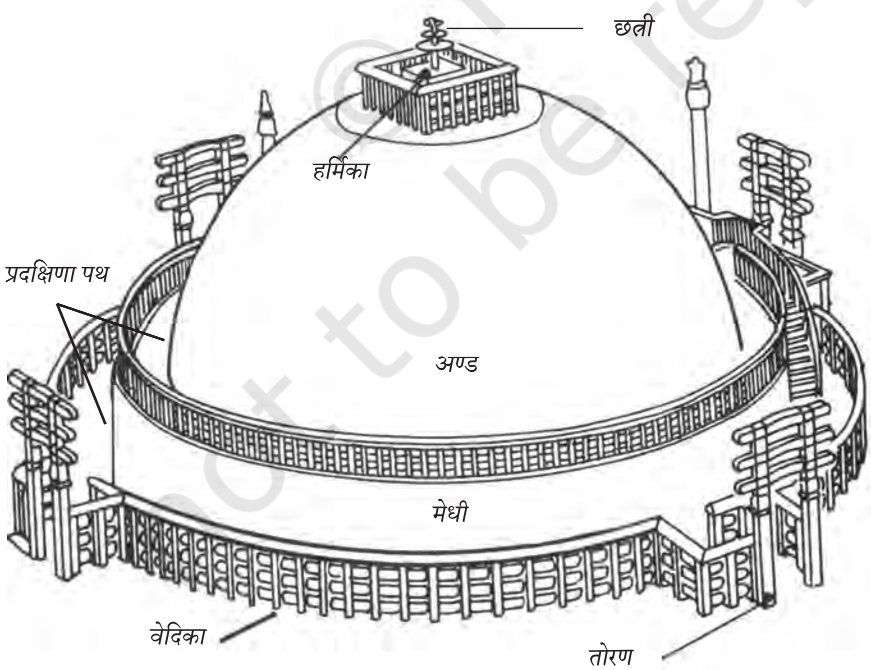

स्तूप-1 की योजना, साँची

में अधिक उन्नत प्रतीत होती हैं। बुद्ध को प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत किया जाना अब भी जारी रहा। साँची के स्तूप-1 में आख्यान अधिक विस्तृत कर दिए गए हैं, किन्तु स्वप्न प्रसंग का प्रस्तुतीकरण महारानी को लेटी अवस्था में और ऊपर से उतरते हुए हाथी के चित्रण द्वारा बहुत ही सरल तरीके से किया गया है। कुछ ऐतिहासिक आख्यानों, जैसे कि कुशीनगर की घेराबंदी, बुद्ध का कपिलवस्तु भ्रमण, अशोक द्वारा रामग्राम स्तूप के दर्शन आदि को पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। मथुरा में पाई गई इस काल की प्रतिमाओं में भी ऐसी ही विशेषताएँ पाई जाती हैं, हालांकि उनके रूपाकृतिक यानी अंगों-प्रत्यंगों के प्रस्तुतीकरण में कुछ अंतर है।

उत्कीर्ण आकृतियाँ, स्तूप-1, साँची

मथुरा, सारनाथ एवं गांधार

जंगले का भाग, संगोल

ईसा की पहली शताब्दी में और उसके बाद, उत्तर भारत में गांधार (अब पाकिस्तान में) व मथुरा और दक्षिण भारत में वेन्गी (आंध्र प्रदेश) कला उत्पादन के महत्वपूर्ण केंद्र बन गए। मथुरा और गांधार में बुद्ध के प्रतीकात्मक रूप को मानव रूप मिल गया। गांधार की मूर्तिकला की परंपरा में बैक्ट्रिया, पार्थिया और स्वयं गांधार की स्थानीय परंपरा का संगम हो गया। मथुरा की मूर्तिकला की स्थानीय परंपरा इतनी प्रबल हो गई कि वह उत्तरी भारत के अन्य भागों में भी फैल गई। इसका सबसे बढ़िया उदाहरण हैं पंजाब में संघोल स्थल पर पाई गईं स्तूप की मूर्तियाँ। मथुरा में बुद्ध की प्रतिमाएँ यक्षों की आरंभिक मूर्तियों जैसी बनी हैं, लेकिन गांधार में पाई गईं बुद्ध की प्रतिमाओं में यूनानी शैली की विशेषताएँ पाई जाती हैं। मथुरा में आरंभिक जैन तीर्थंकरों और सम्राटों, विशेषकर कनिष्क की बिना सिर वाली मूर्तियाँ एवं चित्र भी पाए गए हैं।

वैष्णव प्रतिमाएँ (मुख्य रूप से विष्णु और उनके विभिन्न रूपों की प्रतिमाएँ) और शैव प्रतिमाएँ (मुख्य रूप से उनके लिंगों और मुखलिंगों की प्रतिमाएँ) भी मथुरा में पाई गई हैं, लेकिन संख्या की दृष्टि से बुद्ध की प्रतिमाएँ अधिक पाई गई हैं। ध्यान रहे कि विष्णु और शिव की प्रतिमाएँ उनके आयुधों (चक्र और त्रिशूल) के साथ प्रस्तुत की गई हैं। बड़ी प्रतिमाओं के उत्कीर्णन में विशालता दिखाई गई है। आकृतियों का विस्तार चित्र की परिधि से बाहर दिखाया गया है। चेहरे गोल हैं और उन पर मुस्कान दर्शायी गई है। मूर्तियों के आयतन का भारीपन कम कर दिया गया है, उनमें मांसलता दिखाई देती

है। शरीर के वस्त्र स्पष्ट दृष्टि-गोचर होते हैं और वे बाएँ कंधों को ढके हुए हैं। इस काल में, बुद्ध, यक्ष, यक्षिणी, शैव और वैष्णव देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ और मानव मूर्तियाँ भी बड़ी संख्या में बनाई गईं। ईसा की दूसरी शताब्दी में, मथुरा में, प्रतिमाओं में विषयासक्ति केंद्रिकता आ गई, गोलाई बढ़ गई और वे अधिक मांसल हो गईं। ईसा की चौथी शताब्दी में भी यह प्रवृत्ति जारी रही, लेकिन चौथी शताब्दी के अंतिम दशकों में विशालता और मांसलता में और कमी कर दी गई और मांसलता में अधिक कसाव आ गया। इनमें कम ओढ़े गए वस्त्रों को दर्शाया गया है। इसके बाद ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी में वस्त्रों को प्रतिमाओं के परिमाण/आकार में ही शामिल कर दिया गया। बुद्ध की प्रतिमाओं में वस्त्रों की पारदृश्यता स्पष्टत: दृष्टि-गोचर होती है। इस अवधि में, उत्तर भारत में मूर्तिकला के दो महत्वपूर्ण संप्रदायों (घरानों) का उदय हुआ, जिनका उल्लेख करना ज़रूरी है। मूर्तिकला का परंपरागत केंद्र मथुरा तो कला के उत्पादन का मुख्य केंद्र बना ही रहा, उसके साथ ही सारनाथ और कौशाम्बी भी कला उत्पादन के महत्वपूर्ण केंद्रों के रूप में उभर आए। सारनाथ में पाई जाने वाली बौद्ध प्रतिमाओं में दोनों कंधों को वस्त्र से ढका हुआ दिखाया गया है।

ध्यानस्थ बुद्ध, गांधार, तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवी

बोधिसत्व, गांधार, पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी

© NCERT not to be republished

सिर के चारों ओर आभामंडल बना हुआ है जिसमें अलंकरण (सजावट) बहुत कम किया हुआ है जबकि मथुरा में बुद्ध की मूर्तियों में ओढ़ने के वस्त्र की कई तहें दिखाई गई हैं और सिर के चारों ओर के आभामंडल को अत्यधिक सजाया गया है। इन आरंभिक प्रतिमाओं की विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए इन्हें मथुरा, सारनाथ, वाराणसी, नयी दिल्ली, चेन्नई, अमरावती आदि के संग्रहालयों में देखा जा सकता है।

गंगा की घाटी से बाहर के स्थलों पर स्थित कुछ महत्वपूर्ण स्तूपों में से एक गुजरात में देवनिमोरी का स्तूप है। परवर्ती शताब्दियों में बहुत कम बदलाव आया है, अलबत्ता प्रतिमाएँ छरहरे या पतले रूप में दिखाई गई हैं और वस्त्रों की पारदर्शिता प्रमुख सौंदर्यानुभूति बनी रही है।

दक्षिण भारतीय बौद्ध स्मारक

आंध्र प्रदेश के वेंगी क्षेत्र में अनेक स्तूप स्थल हैं, जैसे—जगय्यपेट, अमरावती, भट्टीप्रोलुरो, नागार्जुनकोंडा, गोली आदि। अमरावती में एक महाचैत्य है जिसमें अनेक प्रतिमाएँ थीं, जो अब चेन्नई संग्रहालय, अमरावती स्थल के संग्रहालय, नयी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय और लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित रखी हुई हैं। साँची के स्तूप की तरह अमरावती के स्तूप में भी प्रदक्षिणा पथ है जो वेदिका से ढका हुआ है और वेदिका पर अनेक आख्यानात्मक प्रतिमाएँ निरूपित की गई हैं। गुम्बदी स्तूप का ढाँचा (संरचना) उभारदार स्तूप प्रतिमाओं के चौकों से ढका हुआ है; यह उसकी खास विशेषता है। अमरावती स्तूप का तोरण समय की मार को नहीं झेल सका और गायब हो गया है। बुद्ध के जीवन की घटनाएँ और जातक कथाओं के प्रसंग चित्रित हैं। हालांकि अमरावती के स्तूप में ईसा

स्तूप की बाहरी दीवार पर उत्कीर्णन, अमरावती

स्तूप पटल, अमरावती, द्वितीय शताब्दी ईसवी

not to be republished

पूर्व तीन शताब्दियों के निर्माण कार्य दृष्टि-गोचर होते हैं, लेकिन इसका सर्वोत्तम विकास ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में हुआ। साँची की तरह, इस स्तूप में भी पहले चरण में बुद्ध की प्रतिमाएँ ढोल के चौकों और कई अन्य स्थानों पर उकेरी गई हैं। संयोजन के भीतरी अंतराल में आकृतियों को नाना रूपों, मुद्राओं, आसनों, जैसे—सामने से, पीछे से, आगे से और एक तरफ से दिखाया गया है।

प्रतिमाओं के चेहरों पर तरह-तरह के गंभीर हाव-भाव देखने को मिलते हैं। आकृतियाँ पतली हैं, उनमें गति और शरीर में तीन भंगिमाएँ (त्रिभंग रूप में) दिखाई गई हैं। साँची की प्रतिमाओं की तुलना में इन प्रतिमाओं का संयोजन अधिक जटिल है। रैखिकता में लोच आ गया है और प्रतिमाओं में दर्शाई गई गतिशीलता निश्चलता को दूर कर देती है। उभारदार प्रतिमाओं (उद्धृतियों) में तीन-आयामी अंतराल को तैयार करने का विचार उभरे हुए आयतन, कोणीय शरीर और जटिल अतिव्याप्ति के रूप में कार्यान्वित किया गया है। किन्तु रूप की स्पष्टता पर अधिक ध्यान दिया गया है, भले ही आख्यान में उसका आकार और भूमिका कैसी भी रही हो। आख्यानों का चित्रण बहुतायत से किया गया है। इन आख्यानों से बुद्ध के जीवन की घटनाओं और जातक कथाओं के प्रसंगों को प्रस्तुत किया गया है। फिर भी उनमें ऐसे अनेक जातक दृश्य पाए जाते हैं जिनको पूरी तरह पहचाना नहीं जा सका है। जन्म की घटना के प्रस्तुतीकरण में महारानी मायादेवी को शय्या पर लेटे हुए दिखाया गया है; उनके चारों ओर दासियाँ खड़ी हैं और संयोजन के ऊपरी भाग में एक छोटे से हाथी को दिखाया गया है। यह महारानी मायादेवी के स्वप्न का प्रस्तुतीकरण है। एक अन्य उद्धृति में बुद्ध के जन्म से सम्बंधित चार घटनाएँ दिखाई गई हैं; इससे यह पता चलता है कि आख्यानों को नाना रूपों में चित्रित किया जाता था।

फलक, नागार्जुनकोंडा

NCERT not to be republished

ईसा की तीसरी शताब्दी में नागार्जुनकोंडा और गोली की प्रतिमाओं में आकृतियों की अनुप्राणित गति कम हो जाती है। अमरावती की उद्भृत प्रतिमाओं की तुलना में नागार्जुनकोंडा और गोली के कलाकारों ने काया की उभरी हुई सतहों का प्रभाव उत्पन्न करने में सफलता पाई, जो स्वाभाविक है और उसका अभिन्न अंग दिखाई देती है। अमरावती, नागार्जुनकोंडा और गुंटापल्ली (आंध्र प्रदेश) में बुद्ध की स्वतंत्र प्रतिमाएँ भी पाई जाती हैं। गुंटापल्ली में, चट्टान में काटी गई एक गुफ़ा है जो एलुरू के पास स्थित है। यहाँ छोटे गजपृष्ठीय (बहुकोणीय) तथा वृत्ताकार चैत्य कक्ष ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में खोदकर बनाए गए थे। एक अन्य महत्वपूर्ण स्थल जहाँ पर चट्टानों को काटकर स्तूप बनाए गए थे, विशाखापट्टनम के पास अनाकपल्ली है। अब तक खुदाई में मिला सबसे बड़ा स्तूप सन्नति (जनपद गुलबर्ग, कर्नाटक) में है। यहाँ एक ऐसा भी स्तूप है जिसे अमरावती के स्तूप की तरह उभारदार प्रतिमाओं से सजाया गया है।

बड़ी संख्या में स्तूपों के निर्माण का अर्थ यह नहीं होता कि वहाँ संरचनात्मक मंदिर, विहार या चैत्य नहीं बनाए जाते थे। हमारे पास इस संबंध में साक्ष्य तो हैं पर कोई संरचनात्मक चैत्य या विहार आज तक बचा नहीं है। कुछ महत्वपूर्ण संरचनात्मक विहारों में साँची के गजपृष्ठाकार (Appsidal) चैत्य का उल्लेख किया जा सकता है। यह वहाँ का मंदिर संख्या 18 है, जोकि एक साधारण देवालय है जिसमें आगे स्तंभ बने हैं और पीछे एक बड़ा कक्ष बना है। इसी प्रकार गुंटापल्ली के संरचनात्मक मंदिर भी उल्लेखनीय हैं।

बुद्ध की प्रतिमाओं के साथ-साथ अन्य बौद्ध प्रतिमाएँ, जैसे—अवलोकितेश्वर, पद्मपाणि, वज्रपाणि, अमिताभ और मैत्रेय जैसे बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ भी बनाई जाने लगीं। किन्तु बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के उदय के साथ, बोधिसत्वों की कुछ ऐसी प्रतिमाएँ भी जोड़ी जाने लगीं जिनके द्वारा बौद्ध धर्म के जनहित के धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए कतिपय सद्गुणों का मानवीकरण करके प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

पश्चिम भारतीय गुफाएँ

पश्चिमी भारत में बहुत-सी बौद्ध गुफ़ाएँ हैं जो ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी और उसके बाद की बताई जाती हैं। इनमें वास्तुकला के मुख्यत: तीन रूप मिलते हैं—(i) गजपृष्ठीय मेहराबी छत

अधूरी निर्मित गुफ़ा, कन्हेरी

चैत्य कक्ष, कार्ला

© NCERT not to be republished

वाले चैत्य कक्ष (जो अजंता, पीतलखोड़ा, भज में पाए जाते हैं); (ii) गजपृष्ठीय मेहराबी छत वाले स्तंभहीन कक्ष (जो महाराष्ट्र के थाना-नादसर में मिलते हैं); और (iii) सपाट छत वाले चतुष्कोणीय कक्ष जिसके पीछे की ओर एक वृत्ताकार छोटा कक्ष होता है (जैसा कि महाराष्ट्र के कोंडिवाइट में पाया गया)। चैत्य के विशाल कक्ष में अर्द्ध-वृत्ताकार चैत्य चाप (मेहराब) की प्रधानता होती थी। सामने का हिस्सा खुला होता था जिसका मोहरा लकड़ी का बना होता था, और कुछ मामलों में बिना खिड़की वाले मेहराब पाए जाते हैं जैसा कि कोंडिवाइट में भी देखा गया है। सभी चैत्य गुफ़ाओं में पीछे की ओर स्तूप बनाना आम बात थी।

गुफ़ा सं. 3, नासिक

ईसा पूर्व पहली शताब्दी में, गजपृष्ठीय मेहराबी छत वाले स्तूप की मानक योजना (नक्शे) में कुछ परिवर्तन किए गए, जिसके अंतर्गत बड़े कक्ष को आयताकार बना दिया गया, जैसा कि अजंता की गुफ़ा सं. 9 में देखने को मिलता है और मोहरे के रूप में एक पत्थर की परदी लगा दी गई। ऐसा निर्माण बेदसा, नासिक, कार्ला, कन्हेरी में भी पाया जाता है। अनेक गुफ़ा स्थलों में पहले मानक किस्म के चैत्य कक्ष परवर्ती काल के भी पाए जाते हैं। कार्ला में, चट्टानों को काटकर सबसे बड़ा कक्ष बनाया गया था। गुफ़ा की योजना में पहले दो खंभों वाला खुला सहन है, वर्षा से बचाने के लिए एक पत्थर की परदी दीवार है, फिर एक बरामदा, मोहरे के रूप में पत्थर की परदी दीवार, एक खंभे पर टिकी गजपृष्ठीय छत वाला चैत्य कक्ष और अंत में पीछे की ओर स्तूप बना है। कार्ला चैत्य कक्ष (मंडप) को मनुष्यों तथा जानवरों की आकृतियों से सजाया गया है। वे भारी और चित्र के अंतराल में चलती हुई दिखाई देती हैं। कन्हेरी की गुफ़ा सं. 3 में कार्ला के चैत्य कक्ष की योजना का कुछ और विशद (विस्तृत) रूप दिखाई देता है। इस गुफ़ा के भीतरी भाग का संपूर्ण निर्माण कार्य एक साथ नहीं किया गया था इसलिए इसमें समय-समय पर संपन्न किए गए कार्य की प्रगति की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। आगे चलकर चतुष्कोणीय चपटी छत वाली शैली को सबसे अच्छा डिज़ाइन समझा जाने लगा और यही डिज़ाइन व्यापक रूप से अनेक स्थानों पर पाया जाता है।

चैत्य, गुफ़ा सं.12, भज

जहाँ तक विहारों का सवाल है, वे सभी गुफ़ा स्थलों पर खोदे गए हैं। विहारों की निर्माण योजना (नक्शे) में एक बरामदा, बड़ा कक्ष और इस कक्ष की दीवारों के चारों ओर प्रकोष्ठ होते हैं। कुछ महत्वपूर्ण

विहार गुफ़ाएँ अजंता की गुफ़ा सं. 12, वेदसा की गुफ़ा सं. 11, नासिक की गुफ़ा सं. 3, 10 और 17 हैं। आरंभ की अनेक विहार गुफ़ाओं के भीतर से चैत्य के मेहराबों और गुफ़ा के प्रकोष्ठ द्वारों पर वेदिका डिज़ाइनों से सजाया गया है। बाद में इस तरह की सजावट को छोड़ दिया गया। नासिक की गुफ़ा सं. 3, 10 और 17 में मोहरे की डिज़ाइन में एक अलग उपलब्धि हुई। नासिक की विहार गुफ़ाओं में सामने के स्तंभों के घट-आधार और घट-शीर्ष पर मानव आकृतियाँ उकेरी गई हैं। ऐसी ही एक अन्य गुफ़ा जुन्नार (महाराष्ट्र) में भी खोदी हुई है जो आम जनता में गणेशलेनी के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें गणेश जी की प्रतिमा स्थापित की हुई है। आगे चलकर इस विहार के कक्ष के पीछे एक स्तूप भी जोड़ दिया गया जिससे यह एक चैत्य-विहार हो गया। ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दी के स्तूपों में बुद्ध की प्रतिमाएँ संलग्न की गई हैं। जुन्नार (महाराष्ट्र) में खुदी हुई गुफ़ाओं का सबसे बड़ा समूह है। नगर की पहाड़ियों के चारों ओर 200 से भी ज़्यादा गुफ़ाएँ खुदी हुई हैं, जबकि मुंबई के पास कन्हेरी में ऐसी 108 गुफ़ाएँ हैं। गुफ़ा स्थलों में सबसे महत्वपूर्ण स्थल हैं—अजंता, पीतलखोड़ा, एलोरा, नासिक, भज, जुन्नार, कार्ला, कन्हेरी की गुफ़ाएँ। अजंता, एलोरा और कन्हेरी आज भी फल-फूल रही हैं।

अजंता

सबसे प्रसिद्ध गुफ़ा स्थल अजंता है। यह महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित है और वहाँ भुसावल/जलगाँव और औरंगाबाद के रास्ते से पहुँचा जा सकता है। अजंता में कुल 26 गुफ़ाएँ हैं। इनमें से चार गुफ़ाएँ चैत्य गुफ़ाएँ हैं, जिनका समय प्रारंभिक चरण यानी ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी (गुफ़ा सं. 10 व 9) और परवर्ती चरण यानी ईसा की पाँचवीं शताब्दी (गुफ़ा सं. 19 व 26) है। इसमें बड़े-बड़े चैत्य-विहार हैं और ये प्रतिमाओं तथा चित्रों से अलंकृत हैं। अजंता ही एक ऐसा उदाहरण है, जहाँ ईसा पूर्व पहली शताब्दी और ईसा की पाँचवीं शताब्दी के चित्र पाए जाते हैं। अजंता और पश्चिमी दक्कन की गुफ़ाओं के काल के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनके शिलालेखों में काल-तिथि का उल्लेख नहीं मिलता।

अजंता की गुफ़ाओं का विहंगम दृश्य

© NCERT not to be republished

गुफ़ा संख्या 2 के बरामदे में उत्कीर्णित मूर्ति फलक, अजंता

गुफ़ा सं. 10, 9, 12 व 13 आरंभिक चरण की हैं, गुफ़ा सं. 11, 15 व 6 ऊपरी तथा निचली, और गुफा सं. 7 ईसा की पाँचवीं शताब्दी के उत्तरवर्ती दशकों से पहले की हैं। बाकी सभी गुफ़ाएँ पाँचवीं शताब्दी के परवर्ती दशकों से ईसा की छठी शताब्दी के पूर्ववर्ती दशकों के बीच खोदी गई हैं। चैत्य गुफ़ा सं. 19 और 26 विस्तृत रूप से उत्कीर्ण की गई हैं। उनका मोहरा बुद्ध और बोधिसत्वों की आकृतियों से सजाया गया है। वे गजपृष्ठीय तहखानेदार छत वाली किस्म की हैं। गुफ़ा सं. 26 बहुत बड़ी है और भीतर का संपूर्ण बड़ा कक्ष (मंडप) बुद्ध की अनेक प्रतिमाओं से उकेरा गया है और उनमें सबसे बड़ी प्रतिमा महापरिनिर्वाण की है। शेष सभी गुफ़ाएँ विहार-चैत्य किस्म की हैं। उनमें खम्भों वाला बरामदा, खम्भों वाला मंडप और दीवार के साथ-साथ प्रकोष्ठ बने हैं। पीछे की दीवार पर बुद्ध का मुख्य पूजा-गृह है। अजंता में पूजा स्थल की प्रतिमाएँ आकार की दृष्टि से बड़ी हैं और आगे बढ़ने की ऊर्जा के साथ प्रदर्शित की गई हैं। कुछ विहार गुफ़ाओं का कार्य अभी तक अपूर्ण है, जैसे—गुफ़ा सं. 5, 14, 23 और 24। अजंता के महत्वपूर्ण संरक्षकों में बराहदेव (गुफ़ा सं. 16 का संरक्षक) जो वाकाटक नरेश हरिसेन का प्रधानमंत्री था, उपेंद्रगुप्त (गुफ़ा सं. 17–20 का संरक्षक) जो उस क्षेत्र का स्थानीय शासक और वाकाटक नरेश हरिसेन का सामंत था तथा बुद्धभद्र (गुफ़ा सं. 26 का संरक्षक)

बुद्ध, यशोधरा एवं राहुल का चित्र, गुफ़ा संख्या 17, अजंता

अप्सरा, गुफ़ा संख्या 17, अजंता

और मथुरादास (गुफ़ा सं. 4 का संरक्षक) के नाम उल्लेखनीय हैं। गुफ़ा सं. 1, 2, 16 और 17 में अनेक चित्र आज भी शेष हैं।

चित्रों में अनेक शैली/प्रकारगत अंतर पाए जाते हैं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अजंता चित्रों में बाहर की ओर प्रक्षेप दिखलाया गया है, रेखाएँ अत्यंत स्पष्ट हैं और उनमें पर्याप्त लयबद्धता देखने को मिलती है। शरीर का रंग बाहरी रेखा के साथ मिल गया है जिससे चित्र का आयतन फैला हुआ प्रतीत होता है। आकृतियाँ पश्चिमी भारत की प्रतिमाओं की तरह भारी हैं।

पहले चरण में बनी गुफ़ाओं, विशेषकर गुफ़ा संख्या 9 एवं 10 में भी चित्र पाये जाते हैं। ये ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की हैं। इन चित्रों में रेखाएँ पैनी हैं, रंग सीमित हैं। इन गुफ़ाओं में आकृतियाँ स्वाभाविक रूप से बिना बढ़ा-चढ़ा कर अलंकृत किए हुए रंगी हैं।

चित्रित छत, गुफ़ा संख्या 10, अजंता

© NCERT not to be republished

चित्र, गुफ़ा संख्या 9, अजंता

भौगोलिक स्थान के अनुसार घटनाओं को समूहबद्ध किया गया है। सतहों में क्षैतिज तरीके से आकृतियों का नियोजन किया गया है। भौगौलिक स्थिति को वास्तु के बाहरी हिस्सों से पृथक कर दिखाया गया है। साँची की मूर्तिकला से समानता से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार समसामयिक मूर्तिकला एवं चित्रकला की प्रक्रिया साथ-साथ चल रही थी। पगड़ी की आगे की गाँठ उसी प्रकार से आकृतियों में दिखाई गई है, जिस प्रकार मूर्तियों में दिखाई गई है। तथापि पगड़ियों के कुछ अलग प्रकार भी चित्रित हैं।

दूसरे चरण के चित्रों का अध्ययन गुफ़ा संख्या 10 तथा 9 की दीवारों व स्तंभ पर बने चित्रों से किया जा सकता है। बुद्ध की ये आकृतियाँ पाँचवीं शताब्दी ईसवी के चित्रों से भिन्न हैं। चित्रकला के क्षेत्र में इस प्रकार की गतिविधियों को धार्मिक आवश्यकताओं के आधार पर समझा जाना चाहिए। गुफ़ाओं का निर्माण एवं चित्रकला की गतिविधियाँ साथ-साथ एक ही समय में हुई थीं। अगले चरण के चित्र मुख्यत: गुफ़ा संख्या 16, 17, 1 और 2 में देखे जा सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य गुफ़ाओं में चित्र निर्माण नहीं हुआ। वस्तुत: प्रत्येक खोदी गई गुफ़ा में चित्र बनाये गए परंतु उनमें से कुछ ही शेष रह गए। इन गुफ़ा चित्रों में प्रतीकात्मक वर्गीकरण पाया जाता है। यह भी देखा गया है कि इन चित्रों में त्वचा के लिए विभिन्न रंगों, जैसे—भूरा, पीलापन लिए हुए भूरा, हरित, पीले आदि का प्रयोग किया गया है जो भिन्न प्रकार की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है। गुफ़ा संख्या 16 और 17 के चित्रों में सटीक और शालीन रंगात्मक

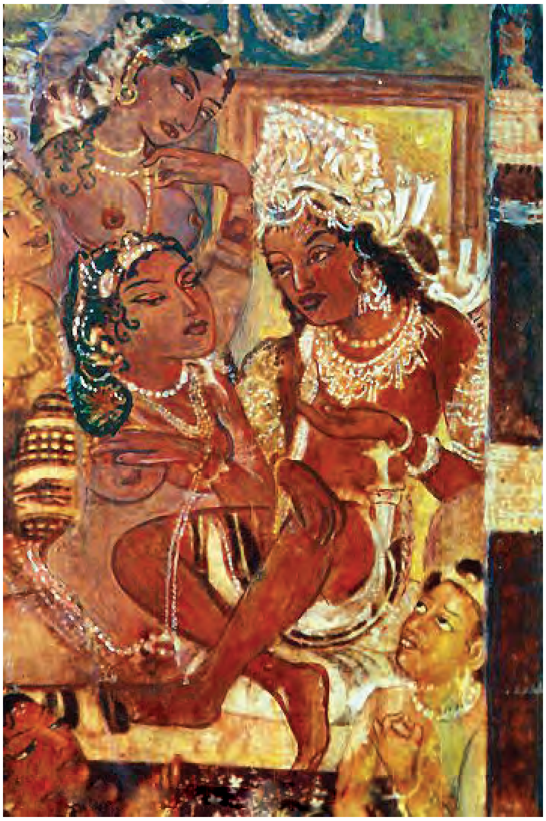

महाजनक जातक फलक का हिस्सा, गुफ़ा संख्या 1, अजंता

© NCERT not to be republished

गुणों का प्रयोग हुआ है। इनमें गुफ़ा की मूर्तियों के समान भारीपन नहीं है। आकृतियों के घुमाव लयात्मक हैं। भूरे रंग की मोटी रेखाओं से उभार प्रदर्शित किया गया है। रेखाएं जोरदार और शक्तिशाली हैं। आकृति संयोजनों में विशिष्ट चमक देने का प्रयास किया गया है।

गुफ़ा संख्या 1 एवं 2 के चित्र सलीके से बने हुए एवं स्वाभाविक हैं जो गुफ़ा की मूर्तियों से सामंजस्य रखते हैं। वास्तु का संयोजन सामान्य है और आकृतियों को त्रि-आयामी बनाने हेतु एवं विशेष प्रभाव लाने के लिए गोलाकार संयोजन का प्रयोग किया गया है। अर्ध निर्मित, लंबी आँखें बनायी गई हैं। चित्रकारों के विभिन्न समूहों द्वारा निर्मित चित्रों की भिन्नता का पता उनकी प्रतीकात्मकता एवं शैलीगत विशेषताओं से चलता है। स्वाभाविक भंगिमाएँ एवं बढ़ा-चढ़ा कर न बनाए गए चेहरों का प्रयोग विशिष्ट रूप से किया गया है।

इन प्रतिमाओं के विषय बुद्ध के जीवन की घटनाएँ, जातक और अवदान कथाओं के प्रसंग हैं। कुछ चित्र, जैसे—सिंहल अवदान, महाजनक जातक और विधुरपंडित जातक के प्रसंग गुफ़ा की संपूर्ण दीवार को ढके हुए हैं। यह उल्लेखनीय है कि छद्दंत जातक की कथा आरंभिक काल की गुफ़ा सं. 10 पर विस्तारपूर्वक चित्रित की गई है और भिन्न-भिन्न घटनाओं को अनेक भौगोलिक स्थलों के अनुसार एक साथ रखा गया है, जैसे कि जंगल में घटित घटनाओं को राजमहल में घटित घटनाओं से अलग दिखाया गया है। गुफ़ा सं. 10 में छद्दंत का दृश्य पूरी तरह पाली पाठ का अनुसरण करता है, जबकि गुफ़ा सं. 17 में वही प्रसंग भिन्न रूप में चित्रित किया गया है। तथापि, यह द्रष्टव्य है कि पद्मपाणि और वज्रपाणि की आकृतियाँ अजंता में आम हैं और अनेक गुफ़ाओं में पाई जाती हैं

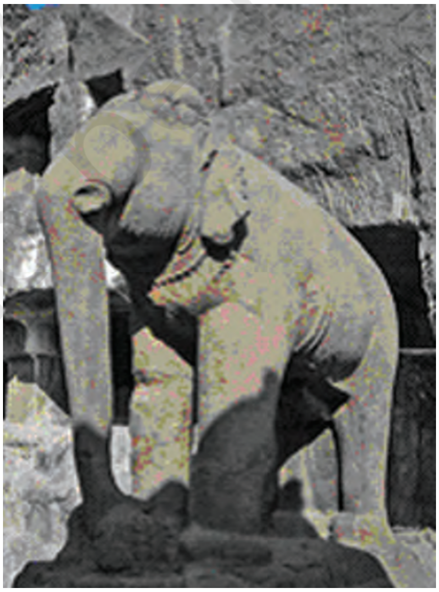

प्रांगण, कैलाश मंदिर, गुफ़ा संख्या 16, एलोरा

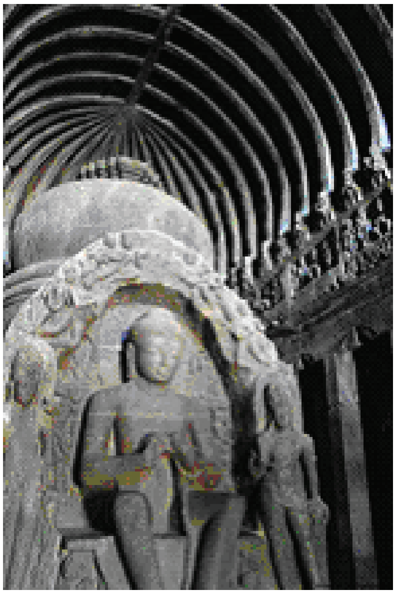

बैठे हुए बुद्ध, चैत्य कक्ष, गुफ़ा संख्या 10, एलोरा

लेकिन वे गुफ़ा सं. 1 में सर्वोत्तम रीति से सुरक्षित हैं। गुफ़ा सं. 2 की कुछ आकृतियाँ वेन्गी की प्रतिमाओं से संबंध रखती हैं जबकि दूसरी ओर, कुछ प्रतिमाओं के निरूपण में विदर्भ की मूर्तिकला का प्रभाव भी दृष्टि-गोचर होता है।

एलोरा

औरंगाबाद जिले में एक अन्य महत्वपूर्ण गुफ़ा स्थल है एलोरा। यह अजंता से 100 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है और यहाँ बौद्ध, ब्राह्मण व जैन तीनों तरह की 34 गुफ़ाएँ हैं। देश में कलाओं के इतिहास की दृष्टि से यही एक ऐसा अनुपम स्थल है जहाँ ईसा की

गजासुर वध, गुफ़ा संख्या 15, एलोरा

पाँचवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक के तीन भिन्न-भिन्न धर्मों के मठ/धर्म भवन एक साथ पाए जाते हैं। इसके अलावा यह अनेक शैलियों के संगम के रूप में भी बेजोड़ है। एलोरा और औरंगाबाद की गुफ़ाएँ दो धर्मों, विशेष रूप से बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के बीच चल रहे अंतरों को दर्शाती हैं। वहाँ बाहर बौद्ध गुफ़ाएँ हैं, जहाँ बौद्ध धर्म के वज्रयान संप्रदाय की अनेक प्रतिमाएँ, जैसे—तारा, महामयूरी, अक्षोभ्य, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, अमिताभ आदि की प्रतिमाएँ प्रस्तुत की गई हैं। बौद्ध गुफ़ाएँ आकार की दृष्टि से काफ़ी बड़ी हैं और उनमें एक दो, यहाँ तक कि तीन मंजिलें हैं। उनके स्तंभ विशालकाय हैं। अजंता में भी दो मंजिली गुफ़ाएँ खुदी हुई हैं, मगर एलोरा में तीन मंजिली गुफ़ा बनाना वहाँ की विशेष उपलब्धि कही जा सकती है। ऐसी गुफ़ाओं पर प्लास्टर और रंग-रोगन किया गया था। अधिष्ठाता बुद्ध की प्रतिमाएँ आकार में बड़ी हैं और पद्मपाणि तथा वज्रपाणि की प्रतिमाएँ आमतौर पर उनके अंगरक्षक के रूप में बनाई गई हैं। गुफ़ा सं 12, जोकि एक तिमंजिली गुफ़ा

है, उसमें तारा, अवलोकितेश्वर मानुषी बुद्धों और वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघसिद्धि, वज्रसत्व और वज्रराज की प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म की तो एक ही दो मंजिली गुफ़ा यानी गुफ़ा सं. 14 है। स्तंभों के डिजाइन बौद्ध गुफ़ाओं में बनने शुरू हुए थे और जब वे विकसित होते-होते नौवीं शताब्दी की जैन गुफ़ाओं में पहुंचे तो वे अत्यंत अलंकृत हो गए और उनके सज्जात्मक रूप में भारी उभार आ गया।

ब्राह्मणिक गुफ़ा सं 13–28 में अनेक प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। उनमें से कई गुफ़ाएँ शैव धर्म को समर्पित हैं परंतु उनमें शिव और विष्णु तथा पौराणिक कथाओं के अनुसार उनके अवतारों की प्रतिमाएँ प्रस्तुत की गई हैं। शैव कथा-प्रसंगों में कैलाश पर्वत को उठाए हुए रावण, अंधकासुर वध, कल्याण-सुंदर जैसे प्रसंग स्थान-स्थान पर चित्रित किए गए हैं जबकि वैष्णव कथा-प्रसंगों में विष्णु के विभिन्न अवतारों को दर्शाया गया है। एलोरा की प्रतिमाएँ अतिविशाल हैं, उनका आयतन बाहर निकला हुआ है जो चित्र की परिधि में गहराई उत्पन्न करता है। प्रतिमाएँ भारी हैं और उनमें मूर्तिकला का शानदार प्रदर्शन किया गया है। एलोरा में अनेक कलाकार भिन्न-भिन्न स्थलों, जैसे—विदर्भ (महाराष्ट्र), कर्नाटक, तमिलनाडु आदि से आए थे और उन्होंने प्रतिमाओं को उकेरा था। इसलिए मूर्तिकला की शैलियों की दृष्टि से भारत में इसे अनेक शैलियों का संगम स्थान कहा जा सकता है। गुफ़ा सं. 16 को कैलाश लेनी कहा जाता है। यहाँ केवल एक अकेली गुफ़ा को काटकर एक शैल मंदिर बनाया गया है। इसे वास्तव में कलाकारों की एक अनुपम उपलब्धि कहा जा सकता है, इस पर अगले अध्याय में भी चर्चा की जाएगी। महत्वपूर्ण शैव गुफ़ाओं में गुफ़ा सं. 29 और 21 उल्लेखनीय हैं। गुफ़ा सं. 29 की योजना मुख्य रूप से एलिफैंटा जैसी ही है। गुफ़ा सं. 29, 21, 17, 14, और 16 की मूर्ति कलात्मक विशेषता विशालता, स्मारकीयता और चित्र में प्रदर्शित गतिशीलता की दृष्टि से आश्चर्यजनक है।

एक अन्य उल्लेखनीय गुफ़ा स्थल बाघ है। बौद्ध भित्ति-चित्रों वाली बाघ गुफ़ाएँ मध्य प्रदेश के धार जिला मुख्यालय से 97 कि.मी. की दूरी पर स्थित हैं। ये गुफ़ाएँ प्राकृतिक नहीं हैं, अपितु चट्टानों को काटकर बनायी गई हैं। ये प्राचीन समय में सातवाहन काल में बनायी गईं थीं। अजन्ता जैसी बाघ गुफ़ाओं का निर्माण कुशल शिल्पकारों द्वारा सीधे बलुए पत्थर पर किया गया है जिसका मुख बघानी नामक मौसमी नदी की तरफ है। आज, मूल नौ गुफ़ाओं में से केवल पाँच गुफ़ाएँ बची हैं जिसमें से सभी भिक्षुओं के विहार या चतुष्कोण वाले विश्राम स्थान हैं। इनमें लघु कक्षों के पीछे चैत्य अर्थात् प्रार्थना कक्ष होता है। इन पाँच गुफ़ाओं में सबसे महत्वपूर्ण गुफ़ा सं. 4 है, जिसे आमतौर पर रंगमहल के नाम से जाना जाता है जहाँ दीवार और छत पर चित्र अभी भी दिखाई देते हैं। गुफ़ा संख्या 2, 3, 5 एवं 7 में भी दीवारों और छतों पर भित्ति-चित्रों को देखा जा सकता है। इसमें लाल-भूरे रंग के पत्थर के किरकिरे से तैयार मोटे पलस्तर से इन दीवारों और छतों को बनाया गया था। इनमें सबसे सुन्दर चित्रों में से कुछ गुफ़ा संख्या 4 के बरामदे की दीवारों पर हैं। भारतीय शास्त्रीय कला को और अधिक हानि न हो इसलिए 1982 में इन चित्रों को ग्वालियर के पुरातात्विक संग्रहालय में पुनःस्थापित किया गया जिन्हें वहाँ देखा जा सकता है।

© NCERT not to be republished

एलिफैंटा गुफ़ा द्वार

एलिफ़ैंटा एवं अन्य स्थल

मुंबई के पास स्थित एलिफ़ैंटा गुफ़ाएँ शैव धर्म से संबंधित हैं। ये गुफ़ाएँ एलोरा की समकालीन हैं और इनकी प्रतिमाओं में शरीर का पतलापन नितांत गहरे और हल्के प्रभावों के साथ दृष्टि-गोचर होता है।

चट्टानों में काटी गई गुफ़ाओं की परंपरा दक्कन में जारी रही। वे गुफ़ाएँ महाराष्ट्र में ही नहीं बल्कि कर्नाटक में चालुक्य राजाओं के संरक्षण में मुख्य रूप से बादामी व ऐहोली में तथा आन्ध्र प्रदेश के विजयवाड़ा क्षेत्र में और तमिलनाडु में पल्लव राजाओं के संरक्षण में मुख्यत: महाबलीपुरम् में पाई जाती हैं। देश में ईसा की छठी शताब्दी के बाद कला इतिहास का विकास राजनीतिक स्तर पर अधिक हुआ जबकि इससे पहले के ऐतिहासिक कालों में वह जनता के सामूहिक संरक्षण में अधिक फला-फूला था।

यहाँ मिट्टी की छोटी-छोटी आकृतियों का उल्लेख कर देना भी समीचीन होगा जो देश भर में स्थान-स्थान पर पाई गई हैं। उनसे यह प्रकट होता है कि पत्थर की धार्मिक मूर्तिकला की परंपरा के साथ-साथ समानांतर रूप से स्वतंत्र स्थानीय परंपरा भी चलती रही थी। पकी मिट्टी की अनेक प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न छोटे-बड़े आकारों में सर्वत्र पाई गई हैं जिससे उनकी लोकप्रियता का पता चलता है। उनमें से कुछ खिलौने हैं, कुछ छोटी-छोटी धार्मिक आकृतियाँ हैं और कुछ विश्वास के आधार पर कष्टों तथा पीड़ाओं के निवारण के लिए बनाई गईं लघु मूर्तियाँ हैं।

पूर्वी भारत की गुफ़ा परम्परा

पश्चिमी भारत के समान, पूर्वी भारत में भी विशेषकर आन्ध्र प्रदेश और ओडिशा के तटीय क्षेत्रों में बौद्ध गुफ़ाओं का निर्माण हुआ। आन्ध्र प्रदेश में एलुरू जिले में स्थित गुंटापल्ली इनमें से एक प्रमुख स्थल है। मठों की संरचना के साथ पहाड़ों में गुफ़ाओं का निर्माण हुआ

उदयगिरि-खंडगिरि गुफ़ा, भुवनेश्वर के समीप

है। सम्भवत: यह एक ऐसा विशेष स्थल है जहाँ स्तूप, विहार एवं गुफ़ाओं का एक स्थान पर निर्माण हुआ है। गुंटापल्ली के चैत्य की गुफ़ा गोलाकार है एवं प्रवेश द्वार चैत्य के रूप में बना है। पश्चिमी भारत की अन्य गुफ़ाओं की तुलना में ये गुफ़ाएँ छोटी हैं। विहार गुफ़ाओं का निर्माण अधिक संख्या में हुआ है। अधिक छोटी होने के बावजूद मुख्य विहार गुफ़ाएँ बाहर से चैत्य तोरणों से सजी हैं। ये गुफ़ाएँ आयताकार हैं जिनकी छतें मेहराबदार हैं, जो बिना बड़े कक्ष के एक मंजिली या दो मंजिली हैं। इनका निर्माण ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ था। इसके बाद के काल में कुछ विहार गुफ़ाओं का निर्माण हुआ। गुंटापल्ली के अतिरिक्त रामपरेमपल्लम् एक अन्य महत्वपूर्ण स्थल है, जहाँ पहाड़ी के ऊपर चट्टान

बरामदा, उदयगिरि-खंडगिरि

को काटकर एक छोटे स्तूप का निर्माण हुआ है। विशाखापट्टनम् (आंध्र प्रदेश) के समीप अनकापल्ली में गुफ़ाओं का निर्माण हुआ और चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी में पहाड़ी के ऊपर चट्टानें काटकर एक बड़ा-सा स्तूप बनाया गया। यह एक ऐसा विशिष्ट स्थल है जहाँ चट्टान काटकर देश के सबसे बड़े स्तूप का निर्माण हुआ। इस पहाड़ी के चारों ओर पूजा करने के लिए अनेक स्तूपों का निर्माण किया गया।

ओडिशा में भी चट्टान काटकर गुफ़ा बनाने की परम्परा रही। खंडगिरि-उदयगिरि इसके सबसे आरंभिक उदाहरण हैं जो भुवनेश्वर के समीप स्थित हैं। ये गुफ़ाएँ फैली हुई हैं जिनमें खारवेल जैन राजाओं के शिलालेख पाए जाते हैं। शिलालेखों के अनुसार, ये गुफ़ाएँ जैन मुनियों के लिए थीं। इनमें से कई मात्र एक कक्ष की बनी हैं। कुछ गुफ़ाओं को बड़ी चट्टानों में पशु का आकार देकर बनाया गया है। बड़ी गुफ़ाओं में आगे स्तंभों की कड़ी बनाकर बरामदे के पिछले भाग में कक्षों का निर्माण किया गया है। इन कक्षों के प्रवेश का ऊपरी भाग चैत्य तोरणों और आज भी प्रचलित स्थानीय लोक गाथाओं के संदर्भ से सुसज्जित है।

अभ्यास

1. साँची के स्तूप संख्या 1 की भौतिक एवं सौंदर्य विशिष्टताओं का वर्णन करें।
2. पाँचवीं एवं छठी शताब्दी ईसवी में उत्तर भारत मूर्तिकला की शैलीगत प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें।
3. भारत के विभिन्न भागों में गुफ़ा आश्रयों से एलोरा के एकाश्म मंदिर तक वास्तुकला का विकास किस प्रकार हुआ?
4. अजंता के भित्ति-चित्र क्यों विख्यात हैं?

© NCERT not to be republished

स्तूप सं. 1, साँची

भोपाल (मध्य प्रदेश) से लगभग 50 किलोमीटर की दूरी पर स्थित साँची यूनेस्को द्वारा घोषित एक विश्व धरोहर/विरासत स्थल है। यहाँ अनेक छोटे-बड़े स्तूप हैं जिनमें से तीन मुख्य हैं अर्थात् स्तूप सं. 1, स्तूप सं. 2 और स्तूप सं. 3। ऐसा माना जाता है कि स्तूप सं. 1 में बुद्ध के अवशेष हैं; स्तूप सं. 2 में उनसे कम प्रसिद्ध उन 10 अर्हतों के अवशेष हैं जो तीन अलग-अलग पीढ़ियों के थे, उनके नाम उनकी अवशेष पेटिकाओं पर लिखे हुए हैं और स्तूप सं. 3 में सारिपुत्त और महामौग्गलायन के अवशेष रखे हैं।

स्तूप सं. 1 जो नक्काशी के लिए प्रसिद्ध है, स्तूप वास्तुकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अपने मूल रूप में यह स्तूप एक ईंटों का छोटा ढाँचा था जो आगे चलकर बड़ा बना दिया गया और पत्थर, वेदिका और तोरण (द्वार) से सुसज्जित कर दिया गया। अशोक सिंह शीर्ष स्तंभ, एक शिलालेख के साथ इस स्तूप के दक्षिण की ओर पाया जाता है, जिससे पता चलता है कि साँची में मठीय एवं कलात्मक क्रियाकलाप केंद्र के रूप में गतिविधि कैसे प्रारंभ हुई। सबसे पहले दक्षिण की ओर प्रवेश द्वार बनाया गया, उसके बाद अन्य द्वार बने। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ भी है, ऐसा प्रदक्षिणा पथ इसी स्थल पर पाया जाता है और कहीं नहीं। स्तूप के चारों द्वार स्वयं बुद्ध के जीवन की विभिन्न घटनाओं और महत्वपूर्ण घटना-स्थलों पर अशोक के जाने के बारे में ऐतिहासिक आख्यानों से संबंधित दृश्यों से पूरी तरह सजे हुए हैं। बुद्ध को प्रतीकात्मक रूप से खाली सिंहासन, पद, छत्र, स्तूप आदि के साथ दिखाया गया है। चारों दिशाओं में तोरण बने हुए हैं। इनकी शैलियों में अंतर पाया जाता है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके निर्माण का समय ईसा पूर्व पहली शताब्दी और उसके बाद का है। स्तूप सं. 1 सबसे पुराना स्तूप है लेकिन स्तूप सं. 2 की वेदिका पर जो आकृतियाँ उकेरी गई हैं, वे स्तूप सं. 1 से पहले की हैं। जातक इन आख्यानों के महत्वपूर्ण अंग हैं। वेस्सात जातक, शम जातक, महाकवि जातक, छन्द जातक उन महत्वपूर्ण जातकों में से हैं जो स्तूप के तोरणों और स्तंभों पर चित्रित किए गए हैं। साँची स्तूपों पर पाई जाने वाली आकृतियाँ, आयाम में छोटी होते हुए भी मूर्तिकला की कुशलता दर्शाती हैं। उनमें शरीर के अंग-प्रत्यंग का जो रूपाकृतिक चित्रण किया गया है, वो गहराई और आयाम दोनों ही दृष्टियों से अत्यंत स्वाभाविक है। संयोजन भीड़-भाड़ भरा है और आकृतियों की परस्पर व्याप्ति से जो थोड़ा खाली स्थान बच जाता है, उसका यहाँ पूर्ण अभाव है। मुद्रात्मक मोड़ों से शरीर की गति दर्शायी गई है। उनकी हलचल में संरचनात्मक समरसता और अभिन्नता देखने को मिलती है। स्तंभों पर संरक्षक आकृतियाँ हैं और शालमंजिका (पेड़ की शाखा पकड़े हुए स्त्री) की आकृतियाँ आयतन के प्रस्तुतीकरण में बेजोड़ हैं। स्तूप संख्या 2 की पहले वाली प्रतिमाओं जैसी कठोरता इनमें दिखाई नहीं देती। प्रत्येक तोरण में दो सीधे खड़े स्तंभ और उनकी चोटी पर तीन आड़ी दंडिकाएं हैं। प्रत्येक आड़ी दंडिका आगे से पीछे तक भिन्न-भिन्न प्रतिमा विषयों से अलंकृत है। नीचे की दंडिका से भी आगे तक बढ़ी हुई आड़ी दंडिका पर शालमंजिकाओं की आकृतियाँ बनी हुई हैं।

पद्मासन में बुद्ध, कटरा टीला, मथुरा

© NCERT not to be republished

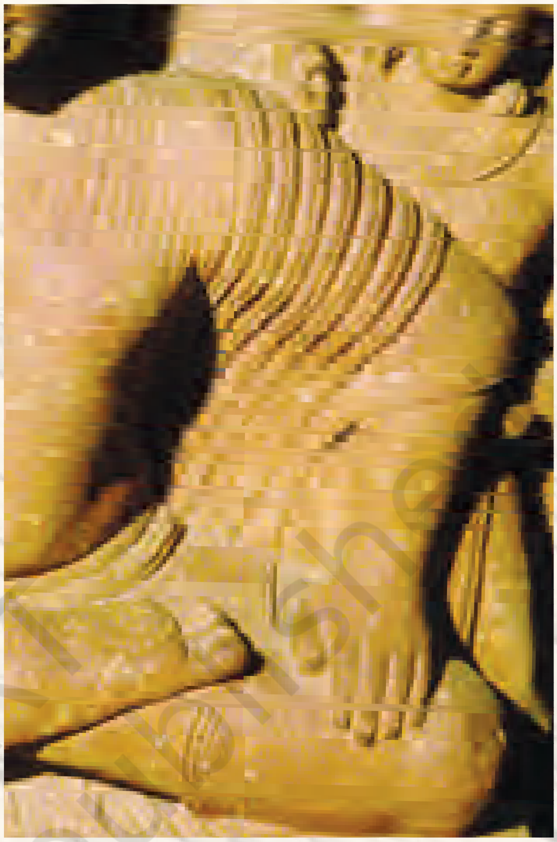

आरंभिक ऐतिहासिक काल में मथुरा मूर्ति उत्पादन का एक विशाल केंद्र था और वहाँ से कई मूर्तियाँ मिली हैं। कुशाण काल तक की जो पुरानी मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें मथुरा से मिली मूर्तियों की संख्या भी काफ़ी अधिक है। मथुरा में मूर्ति बनाने का तरीका अलग किस्म का था इसलिए यहाँ पाई गई मूर्तियाँ देश के अन्य भागों में बनी मूर्तियों से भिन्न हैं। कटरा टीले से मिली बुद्ध की प्रतिमा ईसा की दूसरी शताब्दी की है। इसमें बुद्ध को दो सहायक बोधिसत्वों के साथ दिखाया गया है। बुद्ध पद्मासन में (पालथी भरकर) बैठे हुए हैं और उनका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में कंधे के स्तर से कुछ ऊपर उठा हुआ और बायाँ हाथ बाईं जांघ पर रखा हुआ दिखाया गया है। ऊष्णीय यानी केश ग्रंथि को सिर पर सीधा उठा हुआ दिखाया गया है। मथुरा की मूर्तियाँ इस काल से हल्के आयतन और मांसल शरीर के साथ बनाई गई हैं, कंधे चौड़े हैं। संघति (पोशाक) एक ही कंधे को ढकती है और उसे खासतौर से बाएँ हाथ से ढकते हुए दिखाया गया है जबकि संघति का स्वतंत्र भाग जो वक्षस्थल को ढके हुए है शरीर के धड़ तक ही रखा गया है। बुद्ध सिंहासन पर विराजमान दिखाए गए हैं। साथ की आकृतियों को पद्मपाणि और वज्रपाणि बोधिसत्वों के रूप में पहचाना जाता है क्योंकि एक के हाथ में पद्म (कमल) और दूसरे के हाथ में वज्र है और वे मुकुट पहने हुए बुद्ध की दोनों ओर स्थित हैं। बुद्ध के सिर के चारों ओर जो प्रभामंडल दिखाया गया है वह बहुत बड़ा है और संकेंद्रिक वृत्त में सरल ज्यामितीय आकृतियाँ दिखाई गई हैं। प्रभामंडल के ऊपर कोणीय रूप से उड़ती हुई दो आकृतियाँ दिखाई गई हैं। वे चित्र की सीमा के भीतर काफ़ी गति दर्शाती हैं। आकृतियों में पूर्व की कठोरता के स्थान पर नम्यता आ गयी जिसने उन्हें अधिक पार्थिव रूप दे दिया। शरीर के मोड़ों को इतनी सुकोमलता के साथ उकेरा गया है कि मानों वह नारी आकृति हो। यही मथुरा के मूर्तिकारों द्वारा निर्मित पुरुष और स्त्री आकृतियों का विशिष्ट अंतर दर्शाती है। पद्मासन लगाकर सीधे बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमा रिक्त स्थान में गति उत्पन्न करती है। चेहरा मांसल कपोलों के साथ गोल है। पेट को कुछ आगे निकला हुआ दिखाया गया है लेकिन वह नियंत्रित है। यह ज्ञातव्य है कि मथुरा में कुशाण काल की प्रतिमाओं के अनेक नमूने मिले हैं परन्तु यह मूर्ति परवर्ती कालों में बुद्ध की प्रतिमा के विकास को समझने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

© NCERT not to be republished

बुद्धमुख की प्रतिमा, तक्षशिला

© NCERT not to be republished

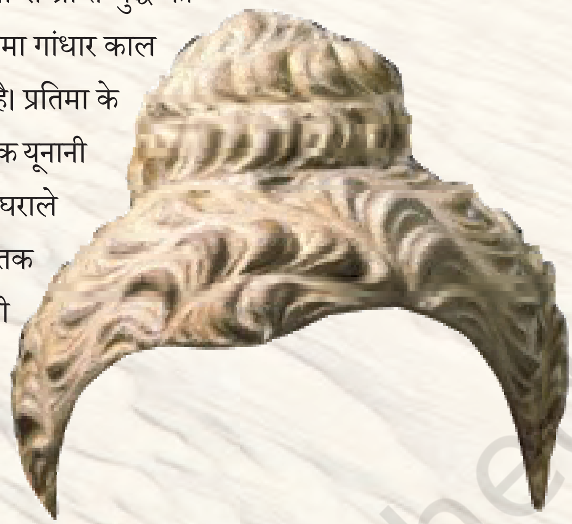

आज के पाकिस्तान के प्राचीन गांधार क्षेत्र में स्थित तक्षशिला से प्राप्त बुद्ध की प्रतिमा ईसा की दूसरी शताब्दी के कुशाण काल की है। यह प्रतिमा गांधार काल में विकसित अनेक चित्रात्मक परिपाटियों का मिला-जुला रूप है। प्रतिमा के स्वरूप में कई यूनानी-रोमन तत्व पाए जाते हैं। बुद्ध के शीर्ष में अनेक यूनानी किस्म के तत्व हैं जो समय के साथ विकसित हुए हैं। बुद्ध के घुंघराले केश घने हैं और सिर को तेज और रेखीय परत से ढके हुए हैं। मस्तक समतल है और उसमें बड़ी-बड़ी पुतलियों वाली आँखें अधमिची दिखाई गई हैं। चेहरा और कपोल भारत के अन्य भागों में पाई गईं प्रतिमाओं की तरह गोल नहीं है। गांधार क्षेत्र की आकृतियों में कुछ भारीपन दिखाई देता है। कान और विशेष रूप से उनके लटके हुए भाग (ललरी) लंबे हैं। रूप के प्रस्तुतीकरण में रैखिकता है और बाहरी रेखाएं तीखी हैं। सतह समतल है। आकृति बहुत भावाभिव्यंजक है। प्रकाश और अंधेरे के पारस्परिक प्रभाव पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है जिसके लिए नेत्र-कोटरों को मोड़कर तलों और नाक के तलों का उपयोग किया गया है। प्रशांतता की अभिव्यक्ति आकर्षण का केंद्र बिंदु बन गयी है। मुखमंडल प्रतिरूपण त्रि-आयामिता की स्वाभाविकता बढ़ा रहा है। एकेमेनियाई, पार्थियाई और बैक्ट्रियाई परम्पराओं की विभिन्न विशेषताओं का स्थानीय परंपरा के साथ सम्मिलन गांधार शैली की एक प्रमुख विशेषता है। गांधार शैली की प्रतिमाओं में यूनानी-रोमन परंपरा के रूपाकृतिक लक्षण पाए जाते हैं परंतु उनमें अंगों-प्रत्यंगों का प्रस्तुतीकरण कुछ ऐसा भी है जिसे पूरी तरह यूनानी-रोमन नहीं कहा जा सकता। अनेक बुद्ध तथा अन्य प्रतिमाओं के विकास के स्रोत उनकी विशिष्ट पश्चिमी एवं पूर्वी शैली में देखे जा सकते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि भारत का पश्चिमोत्तर भाग जो पाकिस्तान में चला गया है, आद्य-ऐतिहासिक काल से ही लगातार बसा हुआ रहा है। ऐतिहासिक काल में भी यह सदा आबाद रहा। गांधार क्षेत्र से बड़ी संख्या में मूर्तियाँ पाई गई हैं। ये मूर्तियाँ बुद्ध और बोधिसत्वों की हैं और उनमें बुद्ध के जीवन की घटनाओं तथा जातक कथाओं का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

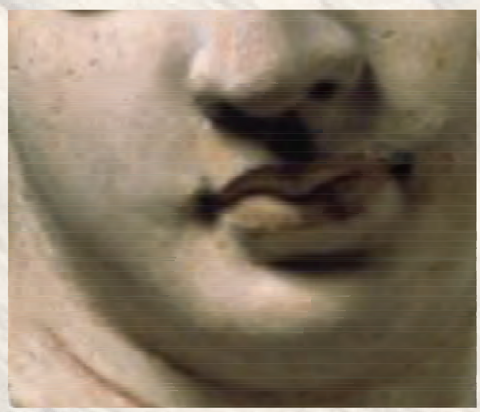

© NCERT not to be republished

आसनस्थ बुद्ध, सारनाथ

बुद्ध की यह प्रतिमा ईसा की पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की है जो सारनाथ से मिली थी और अब सारनाथ के स्थलीय संग्रहालय में सुरक्षित है। यह चुनार के बलुआ पत्थर से बनी हुई है। इसमें बुद्ध को पद्मासन लगाए हुए सिंहासन पर विराजमान दिखाया गया है। यह धम्मचक्रप्रवर्तन के प्रसंग का प्रतिरूपण है, जैसा कि सिंहासन पर बैठी हुई अन्य आकृतियों में देखा जा सकता है। बीच में एक छात्र और दो हिरण मानव आकृतियों के साथ दिखाए गए हैं। इस प्रकार इस ऐतिहासिक घटना को प्रस्तुत किया गया है।

बुद्ध की यह प्रतिमा सारनाथ शैली की प्रतिमाओं का एक उत्तम उदाहरण है। शरीर पतला और संतुलित है, लेकिन कुछ लंबा दिखाया गया है। बाह्य रेखाएं सुकोमल और अत्यंत लयबद्ध हैं। चित्र के स्थान में दृश्य संतुलन बनाने के लिए मुड़ी हुई टांगों को सीधा दिखाया गया है। अंग-वस्त्र शरीर से लिपटा हुआ है और एकीकृत आयतन का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पारदर्शी है। चेहरा गोल है, आँखे आधी मिची हैं। नीचे का होंठ आगे बढ़ा हुआ है। कुषाण काल की मथुरा से प्राप्त पहले वाली प्रतिमाओं की तुलना में कपोलों की गोलाई कम हो गई है। हाथ धम्मचक्रप्रवर्तन की मुद्रा में छाती से नीचे रखे दिखाए गए हैं। गर्दन कुछ लंबी है। इस पर दो कटी रेखाएँ हैं जो बलन (मोड़) की सूचक हैं। ऊष्णीय गोलाकार घुंघराले केशों से बना है। प्राचीन भारत में मूर्तिकारों का उद्देश्य सदैव बुद्ध को एक ऐसे महामानव के रूप में प्रस्तुत करना था जिन्होंने निर्वाण यानी क्रोध एवं घृणा से छुटकारा प्राप्त कर लिया था। सिंहासन के पृष्ठभाग को एक संकेंद्रिक वृत्त में भिन्न-भिन्न फूलों और बेलों के नमूनों से अत्यंत अलंकृत दिखाया गया है। प्रभामंडल का केंद्रीय भाग सादा-समतल है, वहाँ कोई सज्जा नहीं की गई है। इससे प्रभामंडल देखने में बहुत प्रभावशाली बन गया है। प्रभामंडल के भीतर और सिंहासन की पीठ पर की गई सजावट कलाशिल्पी की संवेदनशीलता और विशेष सज्जा के चयन की सूचक है। इस काल की सारनाथ बुद्ध की प्रतिमाएँ सतह और आयतन दोनों के प्रस्तुतीकरण में पर्याप्त कोमलता दर्शाती हैं। अंगवस्त्र की पारदर्शिता शरीर का हिस्सा बन गई है। ऐसा परिष्कार आने में काफ़ी समय लगा होगा और ये लक्षण आगे भी जारी रहे।

सारनाथ में खड़ी मुद्रा वाले बुद्ध की और भी बहुत-सी मूर्तियां मिली हैं जिनका वस्त्र पारदर्शी दिखाया गया है, गति एक समान है तथा उन्हें धर्मराजिका स्तूप के चारों ओर अलग-अलग उकेरा गया है और ये सारनाथ के संग्रहालय में रखी हुई हैं। इनमें से कुछ तो अकेले बुद्ध की हैं और कुछ में बुद्ध को बोधिसत्व पद्मपाणि और वज्रपाणि के साथ दर्शाया गया है।

पद्मपाणि बोधिसत्व
अजंता, गुफ़ा सं. 1

गुफ़ा संख्या 2, अजंता

यह चित्र अजंता की गुफ़ा संख्या 1 में पूजागृह से पहले स्थित आंतरिक बड़े कक्ष की पिछली दीवार पर चित्रित है। इनमें बोधिसत्व को एक पद्म (कमल) पकड़े हुए दिखाया गया है। उनके कन्धे बड़े हैं। शरीर में तीन मोड़ हैं जिनसे चित्र में गति उत्पन्न हुई दिखाई देती है। प्रतिरूपण सुकोमल है, बाहरी रेखाएँ शरीर के आयतन में विलीन प्रतीत होती हैं जिससे त्रिआयामिता का प्रभाव उत्पन्न होता है। बोधिसत्व एक बड़ा मुकुट पहने हुए हैं जिसमें विस्तृत चित्रकारी दृष्टिगोचर होती है। सिर थोड़ा-सा बाईं ओर झुका है। आँखें आधी मिची हैं और कुछ लंबी बनाई गयी हैं। नाक तीखी और सीधी है। चेहरे के सभी उभरे हुए हिस्सों पर हल्का रंग किया गया है जिसका उद्देश्य त्रि-आयामिता का प्रभाव उत्पन्न करना है। मनकों वाले हार में भी ऐसी ही विशेषता पाई जाती है। चौड़े और फैले हुए कंधे शरीर में भारीपन उत्पन्न करते हैं, धड़ का भाग अपेक्षाकृत गोलाकार है। रेखाएँ कोमल और लयबद्ध हैं और शरीर की परिरेखा को दर्शाती हैं। दाहिने हाथ में एक कमल पुष्प है और बायां हाथ खाली जगह पर बढ़ा हुआ है। बोधिसत्व के चारों ओर अन्य कई छोटी-छोटी आकृतियाँ बनी हैं।

बाहर की ओर निकले हुए रंगीन खंड (ब्लॉक) चित्र के आयाम में गहराई का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। बोधिसत्व का आगे की ओर कुछ निकला हुआ दायाँ हाथ आकृति को अधिक ठोस और प्रभावी रूप से गहन बनाता है। धड़ भाग के ऊपर का धागा आयाम दर्शाने वाली शुंडाकार रेखाओं के साथ दिखाया गया है। शरीर के प्रत्येक भाग के चित्रण पर पूरा ध्यान दिया गया है। हल्के लाल, भूरे, धूसर, हरे और नीले रंगों का प्रयोग किया गया है। नाक का उभार, होंठों का कटा हुआ कोना, आगे बढ़ा हुआ निचला होंठ और छोटी ठुड्डी, सब मिलकर आकृति की रचना में ठोसपन (एकरूपता) का प्रभाव लाने में योगदान दे रहे हैं। गुफा सं 1 के चित्र अच्छी किस्म के हैं और उन्हें ठीक से रखा गया है। अजंता के चित्रों में कुछ प्रकारात्मक और शैलीगत विभिन्नताएं देखी जा सकती हैं, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि अजंता की गुफ़ाओं में कई शताब्दियों के दौरान कला-शिल्पियों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों ने चित्रण का कार्य किया था।

पद्मपाणि की उपर्युक्त आकृति के दूसरी ओर वज्रपाणि बोधिसत्व को चित्रित किया गया है। वज्रपाणि दाहिने हाथ में वज्र लिए हुए और सिर पर मुकुट पहने हुए हैं। इस आकृति में भी वो सब चित्रात्मक विशेषताएं पाई जाती हैं जो ऊपर पद्मपाणि के बारे में बताई गई हैं, जैसे—महाजनक जातक, उमंग जातक आदि। महाजनक जातक की कथा संपूर्ण दीवार पर चित्रित की हुई है और यह सबसे बड़ा आख्यान चित्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मपाणि और वज्रपाणि तथा बोधिसत्वों के चित्रों को इस पवित्र स्थल के अभिरक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। अजंता की अन्य गुफ़ाओं में भी ऐसे ही पद्मपाणि और वज्रपाणि के चित्र सर्वोत्तम चित्र माने जाते हैं।

महाजनक जातक के चित्र
गुफ़ा संख्या 1, अजंता

मार विजय, अजंता, गुफ़ा सं. 26

मार विजय का विषय अजंता की कई गुफ़ाओं में चित्रित किया गया है। यही एक मूर्तिकलात्मक प्रतिरूपण है जिसे अजंता की गुफा संख्या 26 की दाहिनी दीवार पर प्रस्तुत किया गया है। यह मूर्ति बुद्ध की महापरिनिब्बाण की विशाल प्रतिमा के पास में बनाई गई है। मूर्ति फलक में बुद्ध की आकृति को बीच में मार की पुत्री और सेना से घिरा हुआ दिखाया गया है। यह घटना बुद्ध के ज्ञानोदय का हिस्सा है। इसमे सिद्धार्थ के उस मानसिक संक्षोभ की स्थिति का मानवीकरण किया गया है जिससे होकर बुद्ध को बुद्धत्व-प्राप्ति (ज्ञानोदय) के समय गुज़रना पड़ा था। मार काम यानि इच्छा का द्योतक है। आख्यान के अनुसार, बुद्ध और मार के बीच संवाद होता है और बुद्ध को अपने दाहिने हाथ से धरती की ओर अपनी उदारता के प्रति एक साक्षी के रूप में इशारा करते हुए दिखाया गया है। यह उभरा हुआ प्रतिमा फलक अत्यंत जीवंत है और अजंता की अतिपरिपक्व मूर्तिकला का उदाहरण है। यह रचना अनेक छोटी-बड़ी प्रतिमाओं के साथ प्रस्तुत की गई है। आकृति के दाहिने ओर मार को अपनी विशाल सेना के साथ आते हुए दिखाया गया है। उसकी सेना में तरह-तरह के आदमी ही नहीं बल्कि विकृत चेहरों वाले अनेक जानवर भी हैं। निचले आधार में संगीतकारों के साथ नाचती हुई आकृतियों की कमर आगे निकली हुई दिखाई गई है। एक नाचती हुई आकृति ने अपने हाथों को नृत्य की मुद्रा में आगे बढ़ा रखा है। बाईं ओर निचले सिरे पर मार की प्रतिमा को यह सोचते हुए दिखाया गया है कि सिद्धार्थ (बुद्ध) को कैसे विचलित किया जाए। फलक के आधे हिस्से में मार की सेना को बुद्ध की ओर बढ़ते हुए दिखाया गया है, जबकि फलक के निचले आधे हिस्से में मार की सेना को बुद्ध की आराधना करके वापस लौटते हुए दिखाया गया है। बीच में बुद्ध पद्मासन लगाकर विराजमान हैं और उनके पीछे एक घनी पत्तियों वाला वृक्ष दिखाया गया है। मार के सैनिकों के चेहरे की कुछ विशेषताएँ विदर्भ शैली की प्रतिमाओं की विशेषताओं से मिलती-जुलती हैं। अजंता की गुफ़ाओं में कलाशिल्पियों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों ने काम किया था इसलिए वहाँ की शैलीगत विशेषताओं के अवलोकन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अमुक प्रतिमा अमुक शैली के शिल्पियों द्वारा बनाई गई होगी। हालांकि अजंता की गुफाओं में और भी कई बड़ी प्रतिमाएँ हैं जो खासतौर पर पूजा कक्ष में और अग्रभाग की दीवारों पर हैं परन्तु प्रतिमाओं का ऐसा जटिल विन्यास बेजोड़ है। दूसरी ओर चित्रित फलकों में भी अनेक विन्यास में ऐसी ही जटिलताएँ देखने को मिलती हैं। एक फलक में नाचती हुई आकृतियों का ऐसा ही विन्यास औरंगाबाद की गुफ़ाओं में भी देखा जा सकता है।

एलिफ़ैंटा की महेशमूर्ति

एलिफ़ैंटा की महेशमूर्ति ईसा की छठी शताब्दी के प्रारंभिक काल में बनाई गई थी। यह गुफ़ा के मुख्य देवालय में स्थापित है। पश्चिमी दक्कन की मूर्तिकला की परंपरा शैलकृत गुफ़ाओं में मूर्ति निर्माण की गुणात्मक उपलब्धि का एक उत्तम उदाहरण है। यह मूर्ति आकार में काफ़ी बड़ी है। इसका बीच का सिर शिव की मुख्य मूर्ति है और दोनों ओर के दृश्यमान सिर भैरव और उमा के हैं। बीच का चेहरा (शिव का) अधिक उभरा हुआ और गोल है, होंठ मोटे हैं और पलकें भारी हैं। नीचे के होंठ उभरे हुए हैं जो इस मूर्ति की एक अलग विशेषता है। इसमें शिव का सर्वसमावेशी पक्ष दर्शाया गया है। इसमें इसका प्रतिरूपण कोमल है, सतह समतल व चिकनी है और चेहरा बड़ा है। शिव-भैरव के पार्श्व-मुख को गुस्से में, बाहर निकली आँख और मूँछ के साथ दिखाया गया है। तीसरा चेहरा नारी मुख है, जो शिव के एक साथ पाँच मुख होने का उल्लेख है। इस प्रतिमा में वैसे तो शिव के तीन मुख ही दिखाई देते हैं, पर हो सकता है कि पीछे की ओर के दो मुख अदृश्य रखे गए हों। प्रत्येक सिर पर मूर्तिकलात्मक विद्यमानता के अनुसार एक अलग किस्म का मुकुट रखा गया है। यह मूर्ति गुफ़ा की दक्षिणी दीवार पर बनाई गई है। इसके साथ शिव के दो अन्य रूपों—अर्द्धनारीश्वर और गंगाधर—की मूर्तियाँ सतह की समतल चिकनाई, लंबाई और लयबद्ध गति जैसी विशेषताओं के लिए जानी जाती हैं। उनकी रचना (संयोजन) बहुत जटिल है। इस गुफ़ा का मूर्ति-विन्यास एलोरा की गुफ़ा सं. 29 में दोहराया गया है।

क.

ख.

ग.

घ.

ङ.

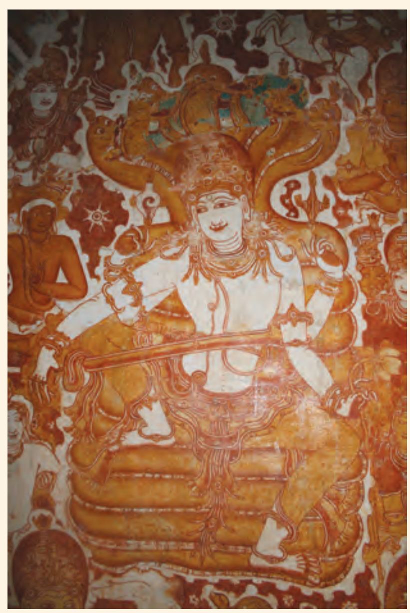

च.

क. अनंत, अनंतपद्मनाभ मंदिर, कसरगोड़

ख. वाराह को मारते हुये शिव—किरातार्जुनीय प्रकरण, लेपाक्षी मंदिर

ग. चोल नरेश राजराज एवं राज कवि करूवरदेवेर, तंजावुर, ग्यारहवीं शताब्दी

घ. त्रिपुरासुर वध करते हुए शिव, तंजावुर

ङ. रावण वध करते हुए राम, रामायणपट्ट, मत्तनचेरी महल

च. शास्त, पद्मनाभपुरम्, थक्कल

5

परवर्ती भित्ति-चित्रण परंपराएँ

अजंता के बाद भी, चित्रकला के बहुत कम पुरास्थल बचे हैं जो चित्रकला की परंपरा के पुनर्निर्माण के लिए बहुमूल्य साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रतिमाएँ अत्यधिक पलस्तर और रंग रोगन की हुई थीं। गुफ़ाएँ खोदने की परंपरा भी अनेक ऐसे स्थानों पर चलती रही जहाँ मूर्तिकला और चित्रकला दोनों का एक साथ उपयोग होता रहा।

बादामी

एक ऐसा स्थल कर्नाटक राज्य में स्थित बादामी है। यह चालुक्य वंश के आरंभिक राजाओं की राजधानी थी, जिन्होंने 543 ई. से 598 ई. तक शासन किया था। वाकाटक शासन के पतन के बाद, चालुक्यों ने दक्कन/दक्षिण भारत में अपनी सत्ता स्थापित की। चालुक्य नरेश मंगलेश ने बादामी गुफ़ाओं की खुदाई का संरक्षण किया। वह चालुक्य नरेश पुलकेशिन प्रथम का छोटा पुत्र और कीर्तिवर्मन प्रथम का भाई था। गुफ़ा सं. 4 के शिलालेख में 578–579 ई. का उल्लेख है और यह भी बताया गया है कि गुफ़ा बहुत सुंदर बनी थी और विष्णु की प्रतिमा को समर्पित की गई थी। इसलिए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह गुफ़ा इसी युग में खोदी गई थी और इसका संरक्षक राजा मंगलेश वैष्णव धर्म का अनुयायी था। अत: आमतौर पर इस गुफ़ा को विष्णु गुफ़ा के नाम से जाना जाता है। इसमें सामने के मंडप की मेहराबदार छत पर चित्रकारी का सिर्फ़ एक ही अंश बचा है।

सहायकों के साथ महारानी, बादामी

इस गुफ़ा के चित्रों में राजमहल के दृश्य चित्रित किए गए हैं। इसमें एक ऐसा दृश्य चित्रित किया गया है जिसमें कीर्तिवर्मन जो कि पुलकेशिन प्रथम का पुत्र और मंगलेश का बड़ा भाई था, अपनी पत्नी और सामंतों के साथ एक नृत्य का आनंद लेता हुआ दर्शाया गया है। दृश्य फलक के कोने की ओर इंद्र और उसके परिकरों की आकृतियाँ हैं। शैली की दृष्टि से कहा जाए तो यह चित्र दक्षिण भारत में अजंता से लेकर बादामी तक की भित्तिचित्र परंपरा का विस्तार है।

© NCERT not to be republished

इसकी लयबद्ध रेखाएँ धारा प्रवाह रूप और सुसंहत/चुस्त संयोजन कला की कुशलता और परिपक्वता के सुंदर उदाहरण हैं जो ईसा की छठी शताब्दी के कलाकारों में पाई जाती थी। राजा और रानी के रमणीय एवं लावण्यमय मुखमंडल हमें अजंता की चित्रण शैली की याद दिलाते हैं। उनकी आँखों के गर्तिका (सॉकेट) बड़े, आँखें आधी मिची और होंठ आगे निकले हुए दिखलाए गए हैं। यह ध्यातव्य है कि चेहरे के अलग-अलग हिस्सों की बाहरी रेखाएँ सुस्पष्ट हैं और संपूर्ण चेहरे को सुंदरता प्रदान करती हैं। इस प्रकार कलाकारों ने साधारण रेखाओं के जरिए संपूर्ण आकृति को भव्य बना दिया है।

पल्लव, पांड्य और चोल राजाओं के शासन काल में भित्तिचित्र

उत्तर चित्रकला की परंपरा, पूर्ववर्ती शताब्दियों में पल्लव, पांड्य और चोल वंशीय राजाओं के शासन काल में दक्षिण भारत में आगे तमिलनाडु तक फैल चुकी थी, अलबत्ता उसमें क्षेत्रीय अंतर अवश्य पाए जाते थे। पल्लव राजा जो दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों में राजसत्ता में आए थे, बड़े कला प्रेमी और कलाओं के संरक्षक थे। महेंद्रवर्मन प्रथम, जिसने सातवीं शताब्दी में राज किया था, उसने पनामलई, मंडगपट्ट और कांचीपुरम् (तमिलनाडु) में मंदिरों का निर्माण करवाया था। मंडगपट्ट के शिलालेख में कहा गया है कि महेंद्रवर्मन प्रथम अनेक उपाधियों से विभूषित था, जैसे—विचित्रचित्त (जिज्ञासु मन वाला), चित्रकारपुलि (कलाकार केशरी), चैत्यकारी (मंदिर निर्माता)। इन उपाधियों से पता चलता है कि महेंद्रवर्मन प्रथम कला संबंधी गतिविधियों में बहुत दिलचस्पी रखता था। इन मंदिरों/देवालयों में पाए

सित्तनवासल, पूर्व पांड्य काल के चित्र, नवीं शताब्दी ईसवी

जाने वाले चित्र भी महेंद्रवर्मन प्रथम की प्रेरणा से ही बनाए गए थे। हालांकि अब उन चित्रों के कुछ अंश ही बचे हैं। पनामलई देवी की आकृति लालित्यपूर्ण बनाई गई है। कांचीपुरम् मंदिर के चित्र तत्कालीन पल्लव नरेश राजसिंह के संरक्षण में बने थे। अब तो उन चित्रों के कुछ अंश ही उपलब्ध हैं जिनमें सोमस्कंद को चित्रित किया गया है। इन चित्रों के चेहरे गोल और बड़े हैं। रेखाओं में लयबद्धता पाई जाती है। पूर्ववर्ती काल के चित्रों की तुलना में इन चित्रों में अलंकरण की मात्रा अधिक है। धड़ का चित्रण पहले जैसा ही है। मगर अब उसे लंबा बना दिया गया है।

जब पांड्य सत्ता में आए तो उन्होंने भी कला को संरक्षण प्रदान किया। तिरुमलईपुरम् की गुफ़ाएँ और सित्तनवासल (पुदुकोट्टई, तमिलनाडु) स्थित जैन गुफ़ाएँ इसका जीवंत उदाहरण हैं। तिरुमलईपुरम के चित्रों में कुछ टूटी हुई परतें देखी जा सकती हैं। सित्तनवासल में, चैत्य के बरामदे में भीतरी छत पर और ब्रैकेट पर चित्र दिखाई देते हैं।

बरामदे के खंभों पर नाचती हुई स्वर्गीय परियों की आकृतियाँ देखी जा सकती हैं। इन आकृतियों की बाहरी रेखाएँ दृढ़ता के साथ खींची गई हैं और हल्की पृष्ठभूमि पर सिंदूरी लाल रंग से चित्रित की गई हैं। शरीर का रंग पीला है, अंगों में लचक दिखाई देती है। नर्तकियों के चेहरों पर भावों की झलक है, अनेक गतिमान अंगों-प्रत्यंगों में लयबद्धता है। ये सभी विशेषताएँ कलाकार की सर्जनात्मक कल्पना-शक्ति और कुशलता की द्योतक हैं। इन आकृतियों की आँखें बड़ी-बड़ी और कहीं-कहीं चेहरे से बाहर निकली हुई भी दिखाई देती हैं। आँखों की यह विशेषता दक्कन और दक्षिण भारत के परवर्ती काल के अनेक चित्रों में भी देखने को मिलती है।

देवी, सातवीं शताब्दी ईसवी, पनामलई

देवालय बनाने और उन्हें उत्कीर्णित आकृतियों तथा चित्रों से सजाने-सँवारने की परंपरा चोल नरेशों के शासन काल में भी जारी रही, जिन्होंने नौवीं से तेरहवीं शताब्दी तक इस प्रदेश पर शासन किया था। लेकिन ग्यारहवीं शताब्दी में, जब चोल राजा अपनी शक्ति के चरम शिखर पर पहुँचे तो चोल कला और स्थापत्य कला (वास्तु कला) के सर्वोत्कृष्ट नमूने प्रकट होने लगे। तामिलनाडु में तंजावुर, गंगैकोंडचोलपुरम् और दारासुरम् के मंदिर क्रमश: राजराज चोल, उसके पुत्र राजेन्द्र चोल और राजराज चोल द्वितीय के शासन काल में बने।

वैसे तो नर्तनमलई में चोल काल के चित्र देखने को मिलते हैं पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण चित्र बृहदेश्वर मंदिर, तंजावुर में पाए जाते हैं। ये चित्र देवालय के संकीर्ण परिक्रमा पथ की दीवारों पर चित्रित किए गए हैं। इन्हें खोजने पर पाया गया कि वहाँ चित्रकारी की दो परतें थीं। ऊपरी परत सोलहवीं शताब्दी में नायक शासकों के काल में चित्रित की गई थी। जब इन चित्रों की सतह को साफ़ किया गया तो चोल कालीन महान परंपरा के नमूने सामने आ गए। इन चित्रों में भगवान शिव के अनेक आख्यानों और रूपों, जैसे—कैलाशवासी शिव, त्रिपुरांतक शिव, नटराज शिव को और साथ ही संरक्षक राजराज चोल और परामर्शदाता कुरुवर तथा नृत्यांगनाओं आदि के चित्रों को भी दर्शाया गया है।

विजयनगर के भित्तिचित्र

बृहदेश्वर मंदिर के चित्रों में कलाकारों की शैलीगत परिपक्वता दृष्टिगोचर होती है जिसका विकास कई वर्षों के अभ्यास के बाद हुआ था। इनमें लहरियेदार सुंदर रेखाओं का प्रवाह, आकृतियों में हाव-भाव और अंगों-प्रत्यंगों की लचक देखते ही बनती है। उनमें एक ओर चोल कालीन कलाकारों की परिपक्वता एवं पूर्णता प्रदर्शित होती है तो दूसरी ओर संक्रमण के दौर की शुरूआत होने का पता चलता है। तीसरी शताब्दी में चोल वंश के पतन के बाद विजयनगर के राजवंश (चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी) ने अपना आधिपत्य जमा लिया और हम्पी से त्रिची तक के समस्त क्षेत्र को अपने नियंत्रण में ले लिया और हम्पी को अपने

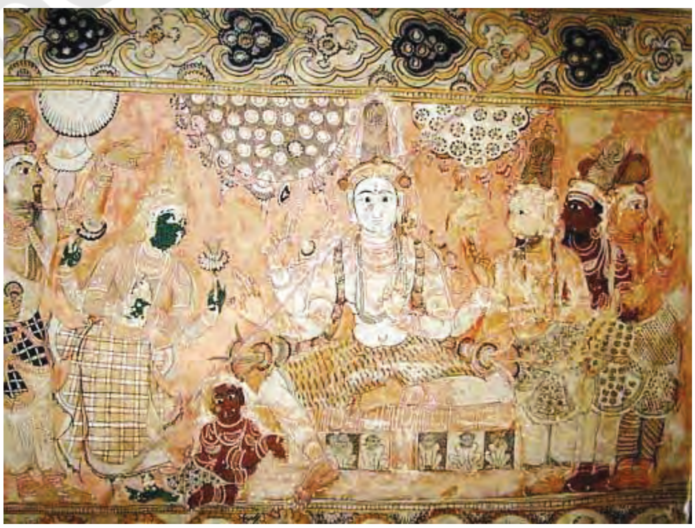

दक्षिणामूर्ति, विजयनगर, लेपाक्षी

© NCERT not to be republished

राज्य की राजधानी बनाया। अनेक मंदिरों में उस काल के अनेक चित्र आज भी मौजूद हैं। त्रिची के पास (तिरूपराकुनरम्, तमिलनाडु) में पाए गए चित्र जो चौदहवीं शताब्दी में बनाए गए थे, विजयनगर शैली के आरंभिक चरण के नमूने हैं। हम्पी में, विरूपाक्ष मंदिर में मंडप की भीतरी छत पर अनेक चित्र बने हुए हैं जो उस वंश के इतिहास की घटनाओं तथा रामायण और महाभारत के प्रसंगों को दर्शाते हैं। अनेक महत्वपूर्ण चित्र फलकों में से एक चित्र में बुक्काराय के आध्यात्मिक गुरु विद्यारण्य को एक पालकी में बैठाकर एक शोभा यात्रा में ले जाया जा रहा है। साथ ही विष्णु के अवतारों को भी चित्रित किया गया है। चित्रों में आकृतियों के पार्श्व चित्र और चेहरे दिखाए गए हैं। आकृतियों की आँखें बड़ी-बड़ी और कमर पतली दिखाई गई है।

आधुनिक आंध्र प्रदेश में, हिंदूपुर के पास लेपाक्षी में वहाँ के शिव मंदिर की दीवारों पर विजयनगरीय चित्रकला के शानदार नमूने देखने को मिलते हैं।

परंपरा का पालन करते हुए विजयनगर के चित्रकारों ने एक चित्रात्मक भाषा का विकास किया जिसमें चेहरों को पार्श्वचित्र के रूप में और आकृतियों तथा वस्तुओं को दो आयामों में दिखाया गया है। रेखाएँ निश्चल लेकिन सरल दिखाई गई हैं और संयोजन सरल रेखीय उपखंडों में प्रकट होता है। पूर्ववर्ती शताब्दियों की इन शैलीगत परिपाटियों को दक्षिण भारत में विभिन्न केंद्रों के कलाकारों द्वारा अपना लिया गया था जैसा कि नायक काल के चित्रों में देखने को मिलता है।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के नायककालीन चित्र तिरूपराकुनरम्, श्रीरंगम्, तिरूवरूर में देखे जा सकते हैं। तिरूपराकुनरम् में दो अलग-अलग कालों यानी चौदहवीं शताब्दी और सत्रहवीं शताब्दी के चित्र पाए जाते हैं। आरंभिक चित्रों में वर्द्धमान महावीर के जीवन के संदर्भ का चित्रण किया गया है।

नायक कालीन चित्रों में महाभारत और रामायण के प्रसंग और कृष्णलीला के दृश्य भी चित्रित किए गए हैं। तिरूवरूर में एक चित्रफलक में मुचुकुंद की कथा चित्रित की गई है।

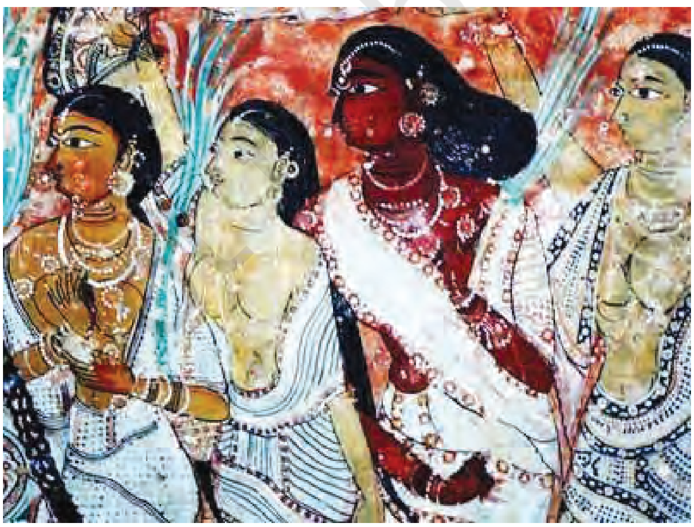

पार्वती एवं उनकी सहायिकाएँ, वीरभद्र मंदिर, लेपाक्षी

चिदंबरम्, तमिलनाडु में अनेक चित्र फलकों में शिव और विष्णु से संबंधित कथाएँ चित्रित हैं। शिव को भिक्षाटन मूर्ति और विष्णु को मोहिनी रूप आदि में चित्रित किया गया है।

तमिलनाडु के अर्काट जिले में चेंगम स्थल पर स्थित श्रीकृष्ण मंदिर में 60 ऐसे चित्रफलक हैं जिनमें कथाओं का चित्रण किया गया है। ये चित्र नायक चित्रकला के परवर्ती चरण के नमूने हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि नायक शैली के चित्र बहुत कुछ विजयनगर शैली के ही विस्तृत रूप हैं। अलबत्ता उनमें कुछ क्षेत्रीय परिवर्तन कर दिए गए हैं। आकृतियों के पार्श्व चित्र अधिकतर समतल पृष्ठभूमि पर दर्शाए गए हैं। यहाँ की पुरुष आकृतियों की कमर पतली दिखाई गई है जबकि विजयनगर शैली में उनके पेट भारी या बाहर निकले हुए दिखाए गए हैं। कलाकारों ने पूर्ववर्ती शताब्दियों की तरह परंपराओं का पालन करते हुए चित्रों में गति भरने का प्रयत्न किया है और चित्रों के अंतराल को भी गतिशील बनाने की कोशिश की है। तिरुवलंजुलि, तमिलनाडु में नटराज का चित्र इस बात का अच्छा उदाहरण है।

केरल के भित्तिचित्र

केरल के चित्रकारों ने (सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के दौरान) स्वयं अपनी ही एक चित्रात्मक भाषा तथा तकनीक का विकास कर लिया था, अलबत्ता उन्होंने अपनी शैली में नायक और विजयनगर शैली के कुछ तत्वों को आवश्यक सोच-समझकर अपना लिया था। इन कलाकारों ने कथककलि, कलम ऐझुथु (केरल में अनुष्ठान इत्यादि के समय भूमि पर की जाने वाली चित्रकारी) जैसी समकालीन परंपराओं से प्रभावित होकर एक ऐसी भाषा विकसित कर ली, जिसमें कंपनशील और चमकदार रंगों का प्रयोग होता था और मानव आकृतियों को त्रिआयामी रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था। उनमें से अधिकांश चित्र पूजागृह की दीवारों और मंदिरों की मेहराबदार दीवारों पर और कुछ राजमहलों के

वेणुगोपाल, श्रीराम मंदिर, त्रिपरयार

© NCERT not to be republished

भीतर भी देखे जा सकते हैं। विषय की दृष्टि से भी केरल के चित्र शेष परंपराओं से अलग दिखाई देते हैं। इनमें चित्रित अधिकांश आख्यान हिंदुओं की धार्मिक कथाओं तथा पौराणिक प्रसंगों पर आधारित हैं जो उस समय केरल में लोकप्रिय थे। ऐसा भी प्रतीत होता है कि कलाकारों ने अपने चित्रण के विषय के लिए रामायण और महाभारत के स्थानीय रूपांतर और मौखिक परंपराओं को आधार बनाया था।

केरल के भित्तिचित्र 60 से भी अधिक स्थलों पर पाए गए हैं जिनमें ये तीन महल भी शामिल हैं—कोचि का डच महल, कायमकुलम् का कृष्णापुरम् महल और पद्मनाभपुरम् महल। जिन स्थलों पर केरल के भित्ति चित्रण परंपरा की परिपक्व अवस्था दृष्टिगोचर होती है, वे हैं—पुंडरीकपुरम् का कृष्ण मंदिर, पनायनरकावु, तिरूकोडिथानम, त्रिपरयार का श्रीराम मंदिर और त्रिसूर का वडक्कुनाथन मंदिर।

आज भी देश के विभिन्न भागों में ग्रामीण अंचल के घरों और हवेलियों के बाहर की दीवारों पर भित्तिचित्र बने हुए देखे जा सकते हैं। इन्हें प्राय: विधि-विधान अथवा त्यौहारों पर महिलाओं द्वारा बनाया जाता है या दीवारों को साफ कर महज उनकी सजावट हेतु। भित्ति-चित्रों के कुछ परंपरागत उदाहरण हैं—राजस्थान और गुजरात के कुछ भागों में प्रचलित पिठोरो, उत्तर बिहार के मिथिला क्षेत्र में मिथिला भित्तिचित्र, महाराष्ट्र में वर्ली अथवा ओडिशा या बंगाल, मध्य प्रदेश या छत्तीसगढ़ के किसी भी गांव में दीवारों की साधारण सजावट।

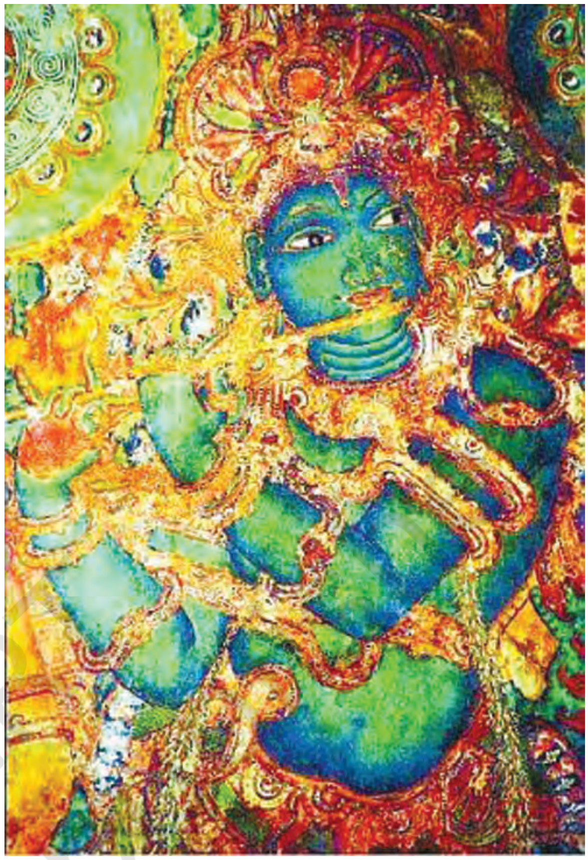

गोपिकाओं के साथ बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण, कृष्ण मंदिर, पुण्डरीकपुरम्

अभ्यास

1. बादामी के गुफ़ा भित्ति-चित्रों की क्या विशेषताएँ हैं?
2. विजयनगर के चित्रों पर एक निबंध लिखें।
3. केरल एवं तमिलनाडु की भित्ति-चित्र परम्पराओं का वर्णन करें।

© NCERT not to be republished

भारत में मंदिर स्थापत्य का फैलाव

(नक्शे की बाहरी रेखा पैमाने में नहीं है)

© NCERT not to be republished

6

मंदिर स्थापत्य और मूर्तिकला

हम ठीक से नहीं जानते कि भारत में पूजा स्थल के रूप में मंदिर का निर्माण कब शुरू हुआ और उस समय मंदिर का उपयोग क्या था। मंदिर देवी-देवताओं की पूजा करने और ऐसी धार्मिक क्रियाएँ संपन्न करने के लिए भी बनाए गए होंगे, जो पूजा कार्य से जुड़ी होती हैं। फिर आगे चलकर मंदिर महत्वपूर्ण धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं के रूप में बढ़ने लगे, जैसा कि अनेक शिलालेखों के साक्ष्यों से पता चलता है। इन शिलालेखों पर राजाओं द्वारा दिए गए बड़े-बड़े धर्मदायों का उल्लेख मिलता है। ऐसे मंदिरों में कालांतर में आवश्यकताओं के अनुसार अनेक मंडप जैसे कि अर्द्धमंडप, महामंडप, नाट्य या रंग मंडप आदि जोड़ दिए गए। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी तक आते-आते भू-प्रशासन में मंदिर की भूमिका काफ़ी अहम हो गई थी।

आज जब हम अंग्रेजी के 'टेम्पल' शब्द की बात करते हैं तो हमारे लिए उसका सामान्य अर्थ भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अनुसार देवालय, देवकुल, मंदिर, कोविल, देवल, देवस्थानम्, प्रासाद या क्षेत्रम् होता है।

प्राचीन मंदिर

जहाँ एक ओर स्तूप और उनका निर्माण कार्य जारी रहा, वहीं दूसरी ओर सनातन/हिंदू धर्म के मंदिर और देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी बनने लगीं। अक्सर मंदिरों को संबंधित देवी-देवताओं की मूर्तियों से सजाया जाता था। पुराणों में उल्लिखित कथाएँ सनातन धर्म की आख्यान-प्रस्तुतियों का हिस्सा बन गईं। हर मंदिर में एक प्रधान या अधिष्ठाता देवता की प्रतिमा होती थी। मंदिरों के पूजा गृह तीन प्रकार के होते हैं—(i) संधर किस्म (जिसमें प्रदक्षिणा पथ होता है); (ii) निरंधर किस्म (जिसमें प्रदक्षिणा पथ नहीं होता है); और (iii) सर्वतोभद्र (जिसमें सब तरफ़ से प्रवेश किया जा सकता है)। कुछ महत्वपूर्ण

चतुर्मुख लिंग, नचना-कुठार, मध्य प्रदेश (इनसेट)

शिव मंदिर, नचना-कुठार, मध्य प्रदेश, पाँचवीं शताब्दी ईसवी

© NCERT not to be republished

मंदिर उत्तर प्रदेश में देवगढ़ तथा मध्य प्रदेश में एरण व नचना-कुठार और विदिशा के पास उदयगिरि में पाए जाते हैं। ये मंदिर साधारण श्रेणी के हैं जिनमें बरामदा, बड़ा कक्ष/मंडप और पीछे पूजा गृह है।

हिन्दू मंदिर का मूल रूप

हिन्दू मंदिर निम्न भागों से निर्मित होता है—

(i) गर्भगृह, जो प्रारंभिक मंदिरों में एक छोटा-सा प्रकोष्ठ होता था। उसमें प्रवेश के लिए एक छोटा-सा द्वार होता था। लेकिन समय के साथ-साथ इस प्रकोष्ठ का आकार बढ़ता गया। गर्भगृह में मंदिर के मुख्य अधिष्ठाता देवता की मूर्ति को स्थापित किया जाता है और यही अधिकांश पूजा-पाठ या धार्मिक क्रियाओं का केंद्र बिंदु होता है; (ii) मंडप, अर्थात् मंदिर का प्रवेश कक्ष, जोकि काफ़ी बड़ा होता है। इसमें काफ़ी बड़ी संख्या में भक्तगण इकट्ठा हो सकते हैं। इस मंडप की छत आमतौर पर खंभों पर टिकी होती है; (iii) पूर्वोत्तर काल में इन पर शिखर बनाए जाने लगे जिसे उत्तर भारत में शिखर और दक्षिण भारत में विमान कहा जाने लगा; (iv) वाहन, अर्थात् मंदिर के अधिष्ठाता देवता की सवारी। वाहन को एक स्तंभ या ध्वज के साथ गर्भगृह के साथ कुछ दूरी पर रखा जाने लगा।

भारत में मंदिरों की दो श्रेणियों को जाना जाता है—उत्तर भारत की 'नागर' शैली और दक्षिण भारत की 'द्रविड़' शैली। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'वेसर' शैली भी एक स्वतंत्र शैली है जिसमें नागर और द्रविड़, दोनों शैलियों की कुछ चुनी हुई विशेषताओं का मिश्रण पाया जाता है। इन परंपरागत प्रमुख श्रेणियों के अंतर्गत और भी कई उप-शैलियाँ आती हैं। हम आगे इस अध्याय में इन उपशैलियों पर चर्चा करेंगे। आगे चलकर मंदिरों के भवनों के निर्माण में ज्यों-ज्यों जटिलता बढ़ती गई, उनमें तरह-तरह की प्रतिमाओं की स्थापना के लिए आले-दिवाले जोड़े जाते रहे, मगर मंदिर की आधारभूत योजना (नक्शा) पहले जैसी ही बनी रही।

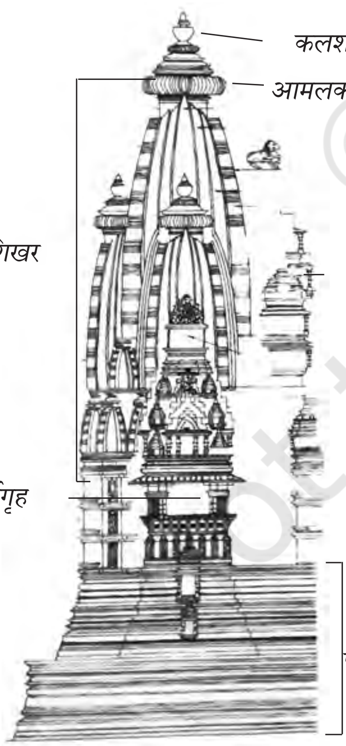

नागर शैली का मंदिर

मूर्तिकला, मूर्तिविद्या और अलंकरण

देवी-देवताओं की मूर्तियों का अध्ययन, कला इतिहास की एक अलग शाखा के अंतर्गत आता है जिसे मूर्तिविद्या (iconography) कहा जाता है। मूर्तिविद्या (जिसे प्रतिमाविद्या भी कहा जाता है) के अंतर्गत कतिपय प्रतीकों तथा पुराण कथाओं के आधार पर मूर्ति की पहचान की जाती है। अक्सर कई बार ऐसा भी होता है कि देवता की आधारभूत कथा और अर्थ तो सदियों तक एक जैसा ही बना रहता है किंतु स्थान और समय के सामाजिक, राजनीतिक या भौगोलिक संदर्भ में उसका उपयोग कुछ बदल जाता है।

प्रत्येक क्षेत्र और काल में प्रतिमाओं की शैली सदा एक जैसी नहीं रही। प्रतिमाविद्या में अनेक स्थानीय परिवर्तन आते रहे। मूर्तिकला तथा अलंकरण शैली में भी व्यापकता आती गई और देवी-देवताओं के रूप उनकी कथाओं के अनुसार बनते-बदलते गए। मंदिर में मूर्ति की स्थापना की योजना बड़ी सूझ-बूझ के साथ बनाई जाती रही। उदाहरण के लिए, नागर शैली के मंदिरों में, गंगा और यमुना जैसी नदी देवियों को गर्भगृह के प्रवेश द्वार के

पास रखा जाता है जबकि द्रविड़ मंदिरों में द्वारपालों को आमतौर पर मंदिर के मुख्य द्वार यानी गोपुरम् पर रखा जाता है। इसी प्रकार मिथुनों नवग्रहों (नौ मांगलिक ग्रहों) और यक्षों को द्वार रक्षा के लिए प्रवेश द्वार पर रखा जाता है। मुख्य देवता यानी मंदिर के अधिष्ठाता देवता के विभिन्न रूपों या पक्षों को गर्भगृह की बाहरी दीवारों पर दर्शाया जाता है। आठ दिशाओं के स्वामी यानी अष्टदिग्पालों को गर्भगृह की बाहरी दीवारों और मंदिर की बाहरी दीवारों पर अपनी-अपनी दिशा की ओर अभिमुख दिखाया जाता है। मुख्य देवालयों की चारों दिशाओं में छोटे देवालय होते हैं, जिनमें मुख्य देवता के परिवार या अवतारों की मूर्तियों को स्थापित किया जाता है। देवी-देवताओं के भिन्न-भिन्न रूपों की मूर्तियों को देखने से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न पंथों या संप्रदायों के बीच दार्शनिक वाद-विवाद और प्रतियोगताएँ चलती थीं जिनके कारण उनके रूपों के प्रस्तुतीकरण में भी विविधता आ गई। अंततः अलंकरण के विविध रूपों, जैसे—गवाक्ष, व्याल/याली, कल्प-लता, आमलक, कलश आदि का भी प्रयोग मंदिर में विविध स्थानों तथा तरीकों से किया गया।

नागर या उत्तर भारतीय मंदिर शैली

उत्तर भारत में मंदिर स्थापत्य/वास्तुकला की जो शैली लोकप्रिय हुई उसे नागर शैली कहा जाता है। इस शैली की एक आम बात यह थी कि संपूर्ण मंदिर एक विशाल चबूतरे (वेदी) पर बनाया जाता है और उस तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं। आमतौर पर इन मंदिरों में, दक्षिण भारतीय या द्रविड़ शैली के विपरीत, कोई चहारदीवारी या दरवाज़े नहीं होते। मंदिर में एक घुमावदार गुम्बद होता है, जिसे शिखर कहा जाता है। यद्यपि पुराने जमाने के मंदिरों में एक ही शिखर होता था लेकिन आगे चलकर इन मंदिरों में कई शिखर होने लगे। मंदिर का गर्भगृह हमेशा सबसे ऊँचे शिखर के एकदम नीचे बनाया जाता है।

नागर मंदिर उनके शिखरों के रूपाकार (शक्ल) के अनुसार कई उप-श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं। भारत के भिन्न-भिन्न भागों में मंदिरों के भिन्न-भिन्न भागों को

सूर्य मंदिर, कोणार्क

© NCERT not to be republished

अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। किंतु एक साधारण शिखर को जिसका आधार वर्गाकार होता है और दीवारें भीतर की ओर मुड़कर चोटी पर एक बिंदु पर मिलती हैं, उसे आमतौर पर रेखा-प्रासाद कहा जाता है।

'नागर' में एक दूसरा प्रमुख वास्तु रूप है फमसाना किस्म के भवन, जो रेखा-प्रासाद की तुलना में अधिक चौड़े और ऊँचाई में कुछ छोटे होते हैं। इनकी छतें अनेक ऐसी शिलाओं की बनी होती हैं, जो भवन के केंद्रीय भाग के ऊपर एक निश्चित बिंदु तक सफ़ाई से जुड़ी होती हैं। जबकि रेखा-प्रासाद सीधे ऊपर उठे हुए लंबे गुंबदों की तरह दिखाई देते हैं। फमसाना की छतें भीतर की ओर नहीं मुड़ी होतीं बल्कि वे सीधे ऊपर की ओर ढलवां होती हैं। बहुत से उत्तर भारतीय मंदिरों में आप यह देखेंगे कि फमसाना डिज़ाइन का प्रयोग मंडपों में हुआ है जबकि मुख्य गर्भगृह एक रेखा-प्रासाद में रखा गया है। कालांतर में रेखा-प्रासाद जटिल हो गए और वे एक अकेले लंबे गुंबद की तरह दिखने की बजाय, मंदिरों पर कई छोटे-छोटे शिखर बनने लगे। ये शिखर पहाड़ की चोटियों की तरह ऊपर उठे होते थे और उनमें सबसे बड़ा शिखर बीच में होता था और यह बीच वाला शिखर हमेशा गर्भगृह के ठीक ऊपर होता था।

वलभी, नागर शैली की उप-श्रेणी कहलाती है। वलभी श्रेणी के वर्गाकार मंदिरों में मेहराबदार छतों से शिखर का निर्माण होता है। इस मेहराबी कक्ष का किनारा गोल होता है। यह शकटाकार यानी बाँस या लकड़ी के बने छकड़े की तरह होता है। ऐसा छकड़ा पुराने जमाने में बैलों से खींचा जाता होगा। ऐसे भवनों को आमतौर पर शकटाकार भवन (wagon vaulted building) कहा जाता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, मंदिर का रूप उन प्राचीन भवन रूपों से प्रभावित था जो पाँचवीं शताब्दी से पहले बनाए जाते थे। भवनों की वलभी किस्म उनमें से एक थी। उदाहरण के लिए, यदि आप शैलकृत बौद्ध चैत्यों की निर्माण योजना (नक्शे) का अध्ययन करें तो पाएँगे कि उनमें से अधिकतर चैत्यों का रूप लंबे कक्षों/प्रकोष्ठों जैसा है और उनकी आखिरी पीठ मुड़ी हुई है। भीतर से छत का यह हिस्सा भी शकटाकार (अर्धगोल चापवितान) दिखाई देता है।

दशावतार विष्णु मंदिर, देवगढ़, पाँचवीं शताब्दी ईसवी

शेषशायी विष्णु, दशावतार मंदिर, देवगढ़

© NCERT not to be republished

मध्य भारत

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान के प्राचीन मंदिरों में अनेक समानताएँ पाई जाती हैं। इनमें सबसे उल्लेखनीय समानता यह है कि ये सभी मंदिर बलुआ पत्थर के बने हुए हैं। गुप्त काल के सबसे पुराने संरचनात्मक मंदिर जो आज भी मौजूद हैं, मध्य प्रदेश में पाए जाते हैं। वे अपेक्षाकृत साधारण किस्म के आडंबरहीन पूजा स्थल हैं। इनमें एक छोटा मंडप होता है जो चार खंभों पर टिका होता है। यह मंडप एक साधारण वर्गाकार मुखमंडप (पोर्च) सा होता है और उसके आगे एक छोटा-सा कक्ष होता है जो गर्भगृह का काम देता है। इस संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे दो मंदिर आज बचे हुए हैं; उनमें से एक उदयगिरि में है जो विदिशा के सीमांत क्षेत्र में स्थित है तथा गुफा मंदिरों के एक बड़े हिंदू शंकुल का भाग है और दूसरा मंदिर साँची में स्तूप के निकट स्थित है। यह समलत छत वाला प्रथम मंदिर है। इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों धर्मों के मंदिर स्थापत्य/वास्तु में एक-जैसे परिवर्तन किए जा रहे थे।

देवगढ़ (जिला ललितपुर, उत्तर प्रदेश) का मंदिर छठी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में बनाया गया था। इसका मतलब यह हुआ कि यह मंदिर उपर्युक्त साँची और उदयगिरि (मध्य प्रदेश) के छोटे मंदिरों के लगभग 100 साल बाद बना था। इसलिए इसे गुप्त कालीन मंदिर स्थापत्य का एक श्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। यह मंदिर वास्तुकला की पंचायतन शैली में निर्मित है जिसके अनुसार मुख्य देवालय को एक वर्गाकार वेदी पर बनाया जाता है और चार कोनों में चार छोटे सहायक देवालय बनाए जाते हैं। (इस प्रकार कुल मिलाकर पाँच छोटे-बड़े देवालय बनाए जाते हैं इसीलिए इस शैली को पंचायतन शैली कहा जाता है)। इसका ऊँचा और वक्ररेखीय शिखर भी इसी काल की पुष्टि करता है। शिखर रेखा-प्रासाद शैली पर बना है जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह मंदिर श्रेष्ठ नागर शैली का आरंभिक उदाहरण है।

पश्चिमाभिमुख मंदिर का प्रवेश द्वार बहुत भव्य है। इसके बाएँ कोने पर गंगा और दाएँ कोने पर यमुना है। इसमें विष्णु के अनेक रूप प्रस्तुत किए गए हैं, जिसके कारण लोगों का यह मानना है कि इसके चारों उप-देवालयों में भी विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ ही स्थापित थीं। इसीलिए लोग इसे भ्रमवश दशावतार मंदिर समझने लगे। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि हम नहीं जानते कि ये चारों उप-देवालय मूल रूप से किन-किन देवताओं को समर्पित थे। मंदिर की दीवारों पर विष्णु की तीन उद्धृतियाँ (उभरी आकृतियाँ) हैं। दक्षिणी दीवार पर शेषशयन, पूर्वी दीवार पर नर-नारायण और पश्चिमी दीवार पर गजेंद्रमोक्ष का

शेषशयन, विष्णु का वह रूप है जब उन्हें अपने वाहन शेषनाग, जिसे अनंत भी कहा जाता है, पर लेटा हुआ दिखाया जाता है। यह विष्णु का वह पक्ष है जो उन्हें शाश्वत निद्रा में प्रस्तुत करता है। **नर-नारायण** जीवात्मा और परमात्मा के बीच की चर्चा को दर्शाता है और **गजेंद्रमोक्ष** मोक्ष-प्राप्ति की कहानी है, जिसमें विष्णु को प्रतीकात्मक रूप से एक असुर का जिसने एक मगर का रूप धारण कर लिया था, दमन करते हुए बताया गया है।

विश्वनाथ मंदिर, खजुराहो

दृश्य चित्रित है। इन उद्धृतियों की स्थिति से यह पता चलता है कि इस मंदिर में परिक्रमा दक्षिण से पश्चिम की ओर की जाती थी जबकि आजकल प्रदक्षिणा दक्षिणावर्त (clockwise) की जाती है। एक बात और भी है, यह मंदिर पश्चिमाभिमुख है, ऐसा बहुत कम देखने को मिलता है। अधिकांश मंदिरों का मुख पूर्व या उत्तर की ओर होता है।

कालांतर में अनेक छोटे-छोटे आकारों के मंदिर बनाए गए। वैषम्य के रूप में अगर हम चंदेल राजाओं द्वारा निर्मित खजुराहो के मंदिरों का अध्ययन करें जो देवगढ़ के मंदिर से लगभग 400 वर्ष बाद दसवीं शताब्दी में बनाए गए थे तो पाएँगे कि मंदिर वास्तुकला की नागर शैली और रूप में नाटकीय रूप से कितना अधिक विकास हो गया था।

खजुराहो का लक्ष्मण मंदिर विष्णु को समर्पित है। यह मंदिर चंदेलवंशीय राजा धंग द्वारा 954 ई. में बनाया गया था। नागर शैली में निर्मित यह मंदिर एक ऊँची वेदी (प्लेटफार्म) पर स्थित है और उस तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इसके कोनों में चार छोटे देवालय बने हैं और इसके गगनचुंबी शिखर पिरामिड की तरह सीधे आकाश में खड़े हुए उसके उदग्र उठान को प्रदर्शित कर रहे हैं। इसके शिखर के अंत में एक नालीदार चक्रिका (तश्तरी) है जिसे आमलक कहा जाता है और उस पर एक कलश स्थापित है। ये सब चीजें इस काल के नागर मंदिरों में सर्वत्र पाई जाती हैं। मंदिर में आगे निकले हुए बारजे और बरामदे हैं। इस प्रकार यह मंदिर देवगढ़ के मंदिर से बहुत ही अलग किस्म का है।

कंदरिया महादेव मंदिर, खजुराहो

खजुराहो स्थित कंदरिया महादेव मंदिर का निर्माण भारतीय मंदिर स्थापत्य की शैली की पराकाष्ठा है। इस विशाल मंदिर के स्थापत्य एवं मूर्तिकला में मध्य कालीन भारतीय मंदिर निर्माण के वे सभी लक्षण विद्यमान हैं जिनके लिए मध्य भारत की स्थापत्य कला की श्रेष्ठता जानी जाती है। खजुराहो के मंदिर अपनी कामोद्दीप एवं श्रृंगार प्रधान प्रतिमाओं के लिए भी बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें श्रृंगार रस को उतना ही महत्व दिया गया है जितना कि मानव की आध्यात्मिक खोज को, और इसे पूर्णब्रह्म का ही एक महत्वपूर्ण अंश माना जाता था। इसलिए अनेक हिन्दू मंदिरों में आलिंगनबद्ध मिथुन को शुभ मानकर उसकी मूर्तियाँ स्थापित की हुई हैं। आमतौर पर ऐसी मिथुन प्रतिमाओं को मंदिर के प्रवेश द्वार पर अथवा किसी बाहरी दीवार पर रखा जाता था। इसके अलावा ऐसी प्रतिमाएँ अक्सर मंडप और मुख्य देवालय के बीच दीवारों पर बनाई जाती थीं। खजुराहो की प्रतिमाओं की अपनी एक खास शैली है जिसके कुछ विशिष्ट लक्षण हैं, जैसे—वे अपने पूरे उभार के साथ हैं, वे आस-पास के पत्थर से काटकर बनाई गई हैं, उनकी नाक तीखी है, ठुड्डी बढ़ी हुई है, आँख लंबी और मोड़ें लंबी मुड़ी हुई हैं।

© NCERT not to be republished

नृत्य कक्षा, लक्ष्मण मंदिर, खजुराहो

खजुराहो में बहुत से मंदिर हैं। उनमें से अधिकांश हिंदू देवी-देवताओं के हैं और कुछ जैन मंदिर भी हैं, इनमें से चौसठ योगिनी मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह दसवीं शताब्दी से पहले का है। इस मंदिर में कई छोटे वर्गाकार देवालय हैं जो ग्रेनाइट के शिलाखंडों को काटकर बनाए गए हैं। इनमें से प्रत्येक देवालय देवियों को समर्पित है। इस तरह की तांत्रिक पूजा का उदय सातवीं शताब्दी के बाद हुआ था। ऐसे बहुत से मंदिर जो योगिनी पंथ को समर्पित हैं मध्य प्रदेश, ओडिशा और दक्षिण में भी तमिलनाडु तक सातवीं से दसवीं शताब्दियों के बीच यत्र-तत्र बनाए गए थे, लेकिन आज उनमें से बहुत कम बचे हैं।

पश्चिमी भारत

भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र में जिसमें गुजरात और राजस्थान शामिल हैं और कभी-कभी शैलीगत विशेषताओं के कारण पश्चिमी मध्य प्रदेश को भी इसमें शामिल कर लिया जाता है, मंदिर इतने अधिक हैं कि उन पर व्यापक रूप से विचार नहीं किया जा सकता। ये मंदिर रंग और किस्म दोनों ही दृष्टियों से अनेक प्रकार के पत्थरों से बने हैं। इनमें बलुआ पत्थर का इस्तेमाल/प्रयोग हुआ है तथापि दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच बने मंदिरों की मूर्तियाँ धूसर/स्लेटी से काले बेसाल्ट/असिताश्म की बनी पाई जाती हैं। लेकिन इनमें मुलायम चिकने सफ़ेद संगमरमर का भी तरह-तरह से प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है जो दसवीं से बारहवीं शताब्दी के माउंट आबू और रणकपुर (राजस्थान) के जैन मंदिरों में भी देखने को मिलता है।

सूर्य मंदिर, मोढ़ेरा, गुजरात

इस क्षेत्र के अत्यंत महत्वपूर्ण कला-ऐतिहासिक स्थलों में से एक है गुजरात में शामलाजी जो यह दर्शाता है कि इस क्षेत्र की पूर्ववर्ती कला परंपराएँ गुप्त काल के बाद की शैली के साथ किस प्रकार मिल गई थीं जिसके फलस्वरूप मूर्तिकला में एक अलग/नई शैली का उदय हुआ। धूसर स्तरित चट्टानों से बनी अनेक मूर्तियाँ इस क्षेत्र में पाई गई हैं जिनका समय छठी शताब्दी के आस-पास का माना जा सकता है। इनके संरक्षक कौन थे, इस विषय में तो मतभेद है पर इनका काल इनकी शैली के आधार पर निर्धारित कर दिया गया है।

सूर्य मंदिर, मोढ़ेरा, गुजरात

मोढ़ेरा (गुजरात) का सूर्य मंदिर ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभिक काल की रचना है। इसे सोलंकी राजवंश के राजा भीमदेव प्रथम ने 1026 ई. में बनाया था। सूर्य मंदिर में सामने की ओर एक अत्यंत विशाल वर्गाकार जलाशय है जिसमें सीढ़ियों की सहायता से पानी तक पहुँचा जा सकता है। इसे सूर्यकुंड कहते हैं। नदी, तालाब, कुंड, बावली जैसे किसी भी जल निकाय का किसी पवित्र एवं धार्मिक वास्तु स्थल के पास होना पुराने जमाने से ही आवश्यक समझा जाता रहा है। इस काल तक आते-आते ये जल निकाय अनेक मंदिरों के हिस्से बन गए। यह एक सौ वर्गमीटर के क्षेत्रफल वाला वर्गाकार जलाशय है। जलाशय के भीतर की सीढ़ियों के बीच में 108 छोटे-छोटे देवस्थान बने हुए हैं। एक अलंकृत विशाल चाप-तोरण दर्शनार्थी को सीधे सभामंडप तक ले जाता है। यह मंडप चारों ओर से खुला है, जैसा कि उन दिनों पश्चिम तथा मध्य भारत के मंदिरों में आम रिवाज़ था।

गुजरात की काष्ठ-उत्कीर्णन की परंपरा का प्रभाव इस मंदिर में उपलब्ध प्रचुर उत्कीर्णन तथा मूर्ति निर्माण के कार्यों पर स्पष्ट दिखाई देता है। किंतु, केंद्रीय छोटे देवालय की दीवारों पर कोई उत्कीर्णन (कार्य) नहीं किया गया है और दीवारें सादी छोड़ दी गई हैं। चूँकि मंदिर पूर्वाभिमुख है इसलिए हर वर्ष विषुव के समय (यानी 21 मार्च) और 23 सितंबर को जब दिन-रात बराबर होते हैं, सूर्य सीधे केंद्रीय देवालय पर चमकता है।

पूर्वी भारत

पूर्वी भारत के मंदिरों में वे सभी मंदिर शामिल हैं जो पूर्वोत्तर क्षेत्र, बंगाल और ओडिशा में पाए जाते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक क्षेत्र में अपनी-अपनी विशिष्ट किस्म के मंदिरों का निर्माण किया गया। पूर्वोत्तर क्षेत्र और बंगाल के वास्तुशिल्प के इतिहास का अध्ययन करना कठिन हो गया है क्योंकि उन क्षेत्रों में निर्मित अनेक प्राचीन मंदिरों के भवनों का नवीकरण कर दिया गया है और उन स्थलों पर इस समय मंदिरों का जो रूप बचा हुआ है, वह परवर्ती काल में ईंट और कंक्रीट का बना हुआ है जिससे उनका मूल रूप ढक गया है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि चिकनी पकी मिट्टी (टेराकोटा) ही भवन निर्माण

शिवसागर मंदिर, असम

के लिए पटिया/फलक बनाने के लिए मुख्य माध्यम थी। ऐसी मिट्टी की पटिया/फलकों पर बंगाल में सातवीं शताब्दी तक बौद्ध और हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ चित्रित की जाती रहीं। असम और बंगाल में भी बड़ी संख्या में प्रतिमाएँ पाई गईं हैं जिनसे उन क्षेत्रों में कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रीय शैलियों के विकास का पता चलता है।

असम—तेजपुर के पास डापर्वतिया में एक पुराना छठी शताब्दी में बना दरवाजे का ढाँचा मिला है और तिनसुकिया के पास स्थित रंगागोरा चाय बागान (टी एस्टेट) से तरह-तरह की कुछ प्रतिमाएँ मिली हैं जिनसे इस क्षेत्र में गुप्त कालीन शैली के आयात/आगमन का पता चलता है। यह गुप्तकालोत्तर शैली इस क्षेत्र में दसवीं शताब्दी तक बराबर जारी रही। किंतु बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच असम में एक अलग क्षेत्रीय शैली विकसित हो गई। ऊपरी उत्तरी बर्मा से जब असम में टाई लोगों का आगमन हुआ तो उनकी शैली बंगाल की प्रमुख पाल शैली से मिल गई और उनके मिश्रण से एक नई शैली का विकास हुआ, जिसे आगे चलकर गुवाहाटी और उसके आस-पास के क्षेत्र में अहोम शैली कहा जाने लगा।

बंगाल—बिहार और बंगाल (बांग्लादेश सहित) में नौवीं से बारहवीं शताब्दियों के बीच की अवधि में निर्मित प्रतिमाओं की शैली को पाल शैली कहा जाता है जिसका नामकरण तत्कालीन पाल शासकों के आधार पर किया गया। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग से तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक निर्मित मूर्तियों की शैली को तत्कालीन सेन शासकों के नाम पर सेन शैली कहा जाता है। पर उस क्षेत्र में पाए जाने वाले मंदिर स्थानीय बंग शैली के अभिव्यंजक ही माने जाते हैं, उदाहरण के लिए बर्द्धमान जिले में बराकड नगर के पास स्थित नौवीं शताब्दी के सिद्धेश्वर महादेव मंदिर का मोड़दार शिखर बहुत ऊँचा है और उसकी चोटी पर एक बड़ा आमलक बना हुआ है। यह आरंभिक पाल शैली का अच्छा उदाहरण है। यह ओडिशा के समकालीन मंदिरों जैसा है। यह मूल रूप से कुछ शताब्दियों के बाद ऊँचा होता गया है। नौवीं से बारहवीं शताब्दियों के बीच बने अनेक भवन पुरूलिया जिले में तेलकुपी स्थान पर स्थित हैं। जब इस क्षेत्र में बाँध का निर्माण

टेराकोटा का मंदिर, विष्णुपुर

हुआ तो वे पानी में समा गए। ये भवन उस क्षेत्र में प्रचलित अनेक महत्वपूर्ण शैलियों में से हैं जिनसे पता चलता है कि तत्कालीन कलाकार उन सभी शेष नागर उपशैलियों से परिचित थे जो उस समय उत्तर भारत में प्रचलित थीं। पुरूलिया जिले में कुछ मंदिर आज भी विद्यमान हैं जो उस काल के बताए जाते हैं। इन मंदिरों के काले तथा धूसर रंग के बेसाल्ट और क्लोराइट पत्थरों से बने स्तंभों तथा मेहराबी ताकों ने गौर और पाँडुआ में स्थित भवनों को जो प्रारंभिक बंगाल सल्तनत के समय के हैं, बहुत प्रभावित किया। इसी प्रकार बंगाल की अनेक स्थानीय भवन निर्माण की परंपराओं ने भी उस क्षेत्र की मंदिर शैली को प्रभावित किया। इन स्थानीय परंपराओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण था बंगाली झोपड़ी की बाँस की बनी छत का एक ओर ढलान या उसकी मुड़ी हुई शक्ल। इस लक्षण/विशेषता को आगे चलकर मुगल कालीन इमारतों में भी अपना लिया गया। ऐसी छत को संपूर्ण उत्तर भारत में बंगला छत कहा जाता है। मुगल काल में और उसके बाद पकी मिट्टी की ईंटों से बीसियों मंदिर बंगाल और आज के बांग्लादेश में बनाए गए। इनकी शैली अपने किस्म की अलग ही थी जिसमें बाँस की झोपड़ियों में प्रयुक्त स्थानीय निर्माण तकनीकों के तत्व तो शामिल थे ही, साथ ही पाल शैली के बचे खुचे पुराने रूपों और मुस्लिम वास्तुकला के मेहराबों और गुंबदों के रूपों को भी उनमें शामिल कर लिया गया था। इस शैली के भवन विष्णुपुर, बांकुड़ा, बर्द्धमान और बीरभूम में स्थान-स्थान पर मिलते हैं और ये अधिकतर सत्रहवीं शताब्दी के हैं।

जगन्नाथ मंदिर, पुरी

ओडिशा—ओडिशा की वास्तुकला की मुख्य विशेषताओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है, अर्थात् रेखापीड, ढाडकेव और खाकरा। वहाँ के अधिकांश प्रमुख ऐतिहासिक स्थल प्राचीन कलिंग क्षेत्र में हैं यानी आधुनिक पुरी जिले

में ही स्थित हैं, जिसमें भुवनेश्वर यानी पुराना त्रिभुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क के इलाके शामिल हैं। ओडिशा के मंदिरों की शैली एक अलग किस्म की है जिसे हम नागर शैली की उप-शैली कह सकते हैं। आमतौर पर शिखर जिसे ओडिशा में देवल कहते हैं, इस उप-शैली के अंतर्गत लगभग चोटी तक एकदम अर्ध्वोधर यानी बिलकुल सीधा खड़ा होता है पर चोटी पर जाकर अचानक तेजी से भीतर की ओर मुड़ जाता है। इन मंदिरों में देवालयों से पहले सामान्य रूप से मंडल होते हैं, जिन्हें ओडिशा में जगमोहन कहा जाता है। मुख्य मंदिर की भू-योजना हमेशा लगभग वर्गाकार होती है। जो ऊपरी ढाँचे के भागों में मस्तक पर वृत्ताकार हो जाती है। इससे लाट लंबाई में लगभग बेलनाकार दिखाई देती है। लाट के आले-दिवाले आमतौर पर वर्गाकार होते हैं। मंदिरों का बाहरी भाग अत्यंत उत्कीर्णित होता है जबकि भीतरी भाग आमतौर पर खाली होता है। ओडिशा के मंदिरों में आमतौर पर चहारदीवारी होती है।

बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित कोणार्क में भव्य सूर्य मंदिर के अब भग्नावशेष ही देखने को मिलते हैं। यह मंदिर 1240 ई. के आस-पास बनाया गया था। इसका शिखर बहुत भारी भरकम था और कहते हैं कि उसकी ऊँचाई 70 मीटर थी। इसका स्थल इसके भार को न सह सका और यह शिखर उन्नीसवीं शताब्दी में धराशायी हो गया। मंदिर का विस्तृत संकुल एक चौकोर परिसर के भीतर स्थित था। उसमें से अब जगमोहन यानी नृत्य मंडप ही बचा है। अब इस मंडप तक पहुँचा नहीं जा सकता पर इसके बारे में यह कहा जाता है कि यह मंडप हिंदू वास्तुकला में सबसे बड़ा घिरा हुआ अहाता है।

सूर्य मंदिर एक ऊँचे आधार (वेदी) पर स्थित है। इसकी दीवारें व्यापक रूप से आलंकारिक उत्कीर्णन से ढकी हुई हैं। इनमें बड़े-बड़े पहियों के 12 जोड़े हैं; पहियों में आरे और नाभिकेंद्र (हब) हैं जो सूर्य देव की पौराणिक कथा का स्मरण कराते हैं जिसके अनुसार सूर्य सात घोड़ों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर सवार होते हैं। यह सब प्रवेश द्वार के

पाषाण रथ, हम्पी, कर्नाटक

सियान (सीढ़ियों) पर उकेरा हुआ है। इस प्रकार यह संपूर्ण मंदिर किसी शोभायात्रा में खींचे जा रहे विशाल रथ जैसा प्रतीत होता है। मंदिर की दक्षिणी दीवार पर सूर्य की एक विशाल प्रतिमा है जो हरे पत्थर की बनी हुई है। ऐसा कहा जाता है कि पहले ऐसी तीन आकृतियाँ थीं; उनमें से हर एक आकृति एक अलग किस्म के पत्थर पर बनी हुई अलग-अलग दिशा की ओर अभिमुख थी। चौथी दीवार पर मंदिर के भीतर जाने का दरवाजा बना हुआ था, जहाँ से सूर्य की वास्तविक किरणें गर्भ गृह में प्रवेश करती थीं।

पहाड़ी क्षेत्र

कुमाऊं, गढ़वाल, हिमाचल, और कश्मीर की पहाड़ियों में वास्तुकला का एक अनोखा रूप विकसित हुआ। चूँकि कश्मीर का क्षेत्र गांधार कला के प्रमुख स्थलों (जैसे—तक्षशिला, पेशावर और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत) के पास था इसलिए पाँचवीं शताब्दी तक आते-आते कश्मीर की कला पर गांधार शैली का प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। दूसरी ओर उसमें गुप्त कालीन और गुप्तोत्तर कालीन परंपराएँ भी जुड़ने लगीं जो सारनाथ और मथुरा से, यहाँ तक कि गुजरात और बंगाल के केंद्रों से भी वहाँ तक पहुंचीं। ब्राह्मण, पंडित और बौद्ध भिक्षुक कश्मीर, गढ़वाल, कुमाऊं और मैदानी क्षेत्र के धार्मिक केंद्रों, जैसे कि बनारस, नालंदा और दक्षिण में कांचिपुरम् तक के केंद्रों के बीच अक्सर यात्रा करते रहते थे। फलस्वरूप बौद्ध और हिन्दू परंपराएँ आपस में मिलने लगीं और फिर पहाड़ी इलाकों तक फैल गईं। स्वयं पहाड़ी क्षेत्रों की भी अपनी एक अलग परंपरा थी जिसके अंतर्गत लकड़ी के मकान बनाए जाते थे, जिनकी छतें ढलवा होती थीं। इसलिए पहाड़ी क्षेत्रों में अनेक स्थानों पर हम देखेंगे कि मुख्य गर्भगृह और शिखर तो रेखा-प्रासाद शैली में बने होते हैं, जबकि मंडप काष्ठ-वास्तु के एक पुराने रूप में होता है। कभी-कभी मंदिर स्वयं पैगोडा/स्तूप की सूरत ले लेता है।

कश्मीर का कारकोटा काल वास्तुकला की दृष्टि से अत्यधिक उल्लेखनीय है। उन्होंने बहुत से मंदिर बनाए जिनमें से पंड्रेथान में निर्मित मंदिर सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। ये

पहाड़ी क्षेत्र के मंदिर

मंदिर आठवीं और नौवीं शताब्दी में बनाए गए थे। देवालय के पास जलाशय होने की परंपरा का पालन करते हुए, पंडेरनाथ का मंदिर जलाशय के बीच में बनी हुई एक वेदी पर निर्मित है। वैसे तो कश्मीर में बौद्ध और हिंदू दोनों धर्मों के अनुयायियों के होने के साक्ष्य मिलते हैं, पर यह मंदिर एक हिंदू देवस्थान है और संभवत: शिव को समर्पित है। इस मंदिर की वास्तुकला कश्मीर की वर्षों पुरानी परंपरा के अनुरूप है जिसके अंतर्गत लकड़ी की इमारतें बनाई जाती थीं। कश्मीर की बर्फीली परिस्थितियों के कारण छत चोटीदार होती है और उसका ढाल बाहर की ओर होता है जिससे कि हिमपात का मुकाबला किया जा सके। यह मंदिर बहुत ही कम अलंकृत और गुप्तोत्तर कालीन प्रचुर/गहरे उत्कीर्णन की सौंदर्य शैली से बहुत हटकर है। हाथियों की कतार का बना आधार तल और द्वार पर बने अलंकरण ही इस मंदिर की सजावट हैं।

शामलाजी में मिली प्रतिमाओं की तरह, चम्बा में मिली प्रतिमाओं में भी स्थानीय परंपराओं का गुप्तोत्तर शैली के साथ संगम दिखाई देता है। लक्षणा देवी मंदिर में स्थापित महिषासुरमर्दिनी और नरसिंह की प्रतिमाओं/आकृतियों में गुप्तोत्तर कालीन परंपरा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दोनों प्रतिमाओं में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि एक ओर जहाँ कश्मीर की धातु प्रतिमा परंपरा का पालन किया गया है, वहीं दूसरी ओर मूर्तियों में गुप्तोत्तर कालीन सौंदर्य शैली का भी पूरा ध्यान रखा गया है। प्रतिमाओं का पीलापन संभवत: जस्ते और तांबे के मिश्रण का प्रभाव है। उन दिनों कश्मीर में उन दोनों धातुओं का खूब प्रयोग होता था। इस मंदिर में एक शिलालेख है जिसमें यह कहा गया है कि यह मंदिर राजा मेरूवर्मन के शासन काल में सातवीं शताब्दी में बनाया गया था।

कुमाऊं के मंदिरों की चर्चा करें तो वहाँ के दो मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से एक अल्मोड़ा के पास जगेश्वर में और दूसरा पिथौरागढ़ के पास चंपावत में है। ये दोनों मंदिर इस क्षेत्र में नागर वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

द्रविड़ या दक्षिण भारतीय मंदिर शैली

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, नागर शैली के मंदिर आमतौर पर ऊँची कुर्सी (प्लिंथ) पर बनाए जाते हैं, इसके विपरीत द्रविड़ मंदिर चारों ओर एक चहारदीवारी से घिरा होता है। इस चहारदीवारी के बीच में प्रवेश द्वार होते हैं जिन्हें गोपुरम् कहते हैं। मंदिर के गुम्बद

द्रविड़ मंदिर

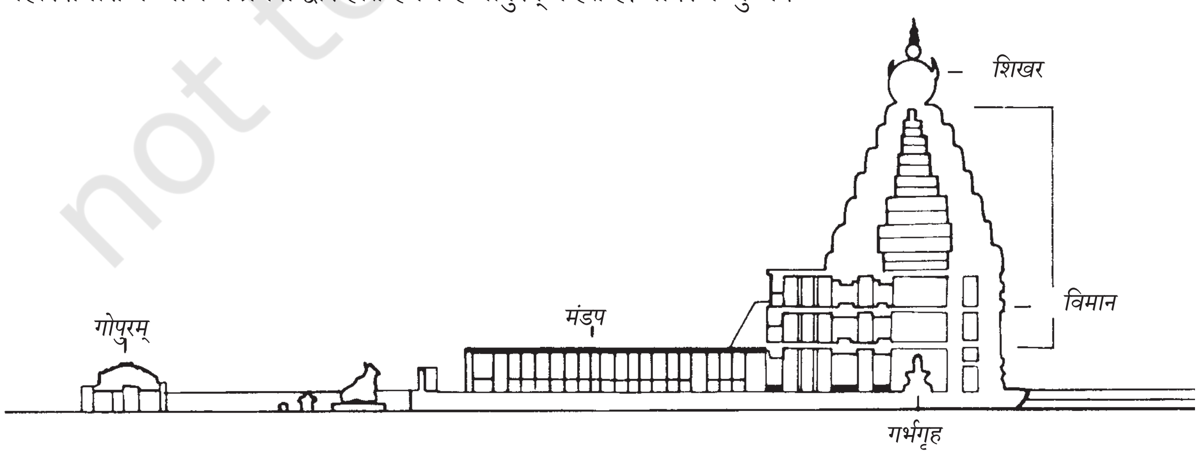

मीनाक्षी मंदिर, मदुरै

का रूप जिसे तमिलनाडु में विमान कहा जाता है, मुख्यत: एक सीढ़ीदार पिरामिड की तरह होता है जो ऊपर की ओर ज्यामितीय रूप से उठा होता है, न कि उत्तर भारत के मंदिरों की तरह मोड़दार शिखर के रूप में। दक्षिण भारतीय मंदिरों में, शिखर शब्द का प्रयोग मंदिर की चोटी पर स्थित मुकुट जैसे तत्व के लिए किया जाता है जिसकी शक्ल आमतौर पर एक छोटी स्तूपिका या एक अष्टभुजी गुमटी जैसी होती है। यह उस क्षेत्र के बराबर होती है जहाँ उत्तर भारतीय मंदिरों में एक आमलक या कलश होता है। उत्तर भारत के मंदिर के गर्भगृह के प्रवेश द्वार के पास मिथुनों या गंगा-यमुना नदी की प्रतिमाएँ होती हैं, दक्षिण भारतीय मंदिरों में आमतौर पर भयानक द्वारपालों की प्रतिमाएँ खड़ी की जाती हैं जो मानों मंदिर की रक्षा कर रहे हों। मंदिर के अहाते (परिसर) में कोई बड़ा जलाशय या तालाब होता है। उप-देवालयों को या तो मंदिर के मुख्य गुम्बद के भीतर ही शामिल कर लिया जाता है या फिर अलग छोटे देवालयों के रूप में मुख्य मंदिर के पास रखा जाता है। दक्षिण के मंदिरों में उत्तर भारत के मंदिरों की तरह एक-साथ कई छोटे-बड़े शिखर नहीं होते। दक्षिण के सबसे पवित्र माने जाने वाले कुछ मंदिरों में आप देखेंगे कि मुख्य मंदिर, जिसमें गर्भगृह बना होता है, उसका गुम्बद सबसे छोटा होता है। इसका कारण यह है कि वह मंदिर का सबसे पुराना भाग होता है और समय के साथ जब नगर की जनसंख्या और आकार बढ़ जाता है तो मंदिर भी बड़ा हो जाता है और उसके चारों ओर नई चहारदीवारी बनाने की भी ज़रूरत पड़ जाती है। इसकी ऊँचाई इससे पहले वाली दीवार से ज्यादा होगी और उसका गोपुरम् भी पहले वाले गोपुरम से अधिक ऊँचा होगा। उदाहरण के लिए यदि आप त्रिची (आधुनिक त्रिचिरापल्ली) के श्रीरंगम मंदिर के दर्शन करने जाएँ तो आप पाएँगे कि इसके चार समकेंद्रिक आयताकार अहाते (चहारदीवारियाँ) हैं और हर चहारदीवारी में एक गोपुरम् बना है। सबसे बाहर की चहारदीवारी सबसे नई है और एकदम बीच का गुम्बद जिसमें गर्भगृह बना है, सबसे पुराना है। इस प्रकार मंदिर शहरी वास्तुकला के केंद्र बिंदु बनने लगे थे। तमिलनाडु में कांचिपुरम, तंजावुर (तंजौर), मदुरई और कुम्भकोणम् सबसे

गंगैकोंडचोलपुरम् मंदिर

© NCERT not to be republished

प्रसिद्ध मंदिर नगर हैं जहाँ आठवीं से बारहवीं शताब्दी के दौरान मंदिर की भूमिका केवल धार्मिक कार्यों तक ही सीमित नहीं रही। मंदिर प्रशासन के केंद्र बन गए जिनके नियंत्रण में बेशुमार जमीन होती थी।

जिस तरह से नागर मंदिरों की कई उप श्रेणियाँ होती हैं, उसी प्रकार द्रविड़ मंदिरों की भी कई उप-श्रेणियाँ हैं। इनकी मूल आकृतियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—वर्गाकार, आयताकार, अंडाकार, वृत्त और अष्टास्र। इनमें से वर्गाकार को आमतौर पर कूट और चतुरस्त्र भी कहा जाता है; आयताकार यानी शाला या आयतस्त्र; अंडाकार जिसे गजपृष्ठीय कहते हैं जो हाथी के पीठ जैसी होती है। इसे वृत्तायत भी कहा जाता है। यह गजपृष्ठीय चैत्यों के शकटाकार रूपों पर आधारित होती है, जिनके प्रवेश द्वार घोड़े की नाल के आकार के होते हैं जिन्हें आमतौर पर 'नासी' कहा जाता है—वृत्त (गोलाकार) और अष्टास्र (अष्टभुजाकार)। आमतौर पर मंदिर की योजना और उसके विमान देवी-देवता के मूर्तरूप के अनुसार निर्धारित होते थे। इसलिए उचित यही था कि विशिष्ट प्रकार की मूर्तियों के लिए उसी से संबंधित प्रकार के मंदिर बनाए जाएँ। स्मरण रहे कि ऊपर सरल रीति से इन उप श्रेणियों में जो अंतर बताए गए हैं, वे इसी अवस्था (काल) तक लागू होते हैं, क्योंकि आगे चलकर इन भिन्न-भिन्न रूपों का कहीं-कहीं मिश्रण हो गया और उनके मेल से नए-नए रूप विकसित हो गए।

पल्लव वंश दक्षिण भारत का एक पुराना राजवंश था। पल्लव ईसा की दूसरी शताब्दी से ही आंध्र क्षेत्र में सक्रिय रहे थे और फिर दक्षिण की ओर आगे बढ़कर तमिलनाडु में बस गए। छठी से आठवीं शताब्दी तक का इतिहास अधिक अच्छी तरह जाना जा सकता है क्योंकि उनके उस समय के कई शिलालेख और स्मारक आज भी उपलब्ध हैं। उनके शक्तिशाली राजाओं ने अपने साम्राज्य को उपमहाद्वीप के अनेक भागों तक फैलाया। कभी-कभी तो उनके साम्राज्य की सीमाएँ ओडिशा तक फैल गई थीं। उन्होंने पूर्वोत्तर एशिया के साथ भी अपने मजबूत संबंध स्थापित कर लिए थे। पल्लव राजा अधिकतर शैव थे, लेकिन उनके शासन काल के अनेक वैष्णव मंदिर आज भी मौजूद हैं और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि वे दक्कन के लंबे बौद्ध इतिहास से भी प्रभावित थे।

आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि उनके आरंभिक भवन शैलकृत (चट्टानों को काटकर बनाए गए) थे जबकि बाद वाले भवन संरचनात्मक (रोड़ा-पत्थर आदि से चुनकर बनाए गए) थे। तथापि यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त आधार मौजूद हैं कि संरचनात्मक भवन उस समय भी सुविख्यात थे, जब शैलकृत भवनों को खोदा जा रहा था। आरंभिक भवनों को आमतौर पर महेंद्रवर्मन प्रथम, जोकि कर्नाटक के चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय का समकालीन था, के शासन काल का माना जाता है। नरसिंहवर्मन प्रथम जिसे मामल्ल भी कहा जाता है, 640 ई. के आस-पास पल्लव राजगद्दी पर बैठा था। उसके बारे में यह प्रसिद्ध है कि उसने पुलकेशिन द्वितीय को हराकर उसके हाथों अपने पिता को मिली हार का बदला लिया और महाबलीपुरम् में अनेक भवनों के निर्माण का कार्य प्रारंभ किया। संभवत: इसीलिए महाबलीपुरम् को उसके नाम का अनुकरण करते हुए मामल्लपुरम् कहा गया।

© NCERT not to be republished

तट मंदिर, महाबलीपुरम्

महाबलीपुरम् का तटीय मंदिर बाद में संभवत: नरसिंहवर्मन द्वितीय (700–728 ई.), जिन्हें राजसिंह भी कहा जाता है, के द्वारा बनवाया गया। इस मंदिर का मुँह समुद्र की ओर करके इसे पूर्वाभिमुख बना दिया गया। परंतु यदि आप इसे गौर से देखें तो पाएँगे कि इस मंदिर में वास्तव में तीन देवालय हैं जिनमें से दो शिव के हैं। उनमें से एक पूर्वाभिमुख और दूसरा पश्चिमाभिमुख है और उन दोनों के बीच अनंतशयनम रूप में विष्णु का मंदिर है। यह एक असामान्य बात है क्योंकि मंदिरों में आमतौर पर एक ही मुख्य देवालय होता है, पूजा के तीन स्थान नहीं होते। इससे यह पता चलता है कि मंदिरों की मूल योजना संभवत: इस रूप में नहीं थी और आगे चलकर परवर्ती संरक्षकों ने मूल देवालय के साथ और देवालय जोड़ दिए। मंदिर के अहाते में कई जलाशय, एक आरंभिक गोपुरम् और कई अन्य प्रतिमाएँ होने का साक्ष्य मिलता है। मंदिर की दीवारों पर शिव के वाहन नन्दी बैल की भी प्रतिमाएँ हैं तथा नीची दीवारों पर और भी कई आकृतियाँ बनी हुई हैं लेकिन वे सदियों तक समुद्र के नमकीन पानी की मार सहते-सहते काफ़ी बिगड़ गई हैं।

तंजावुर का भव्य शिव मंदिर जिसे राजराजेश्वर या बृहदेश्वर मंदिर कहा जाता है, समस्त भारतीय मंदिरों में सबसे बड़ा और ऊँचा है। इसका निर्माण कार्य 1009 ई. के आस-पास राजराज चोल द्वारा पूरा कराया गया था। मंदिर निर्माण उस काल की एक विशेष गतिविधि थी, जब 100 से अधिक महत्वपूर्ण मंदिरों का निर्माण हुआ और चोल काल के अनेक मंदिर आज भी बेहतर अवस्था में पाए जाते हैं और उनमें से कई मंदिरों में आज भी पूजा होती है। चोल सम्राट द्वारा निर्मित कराया गया बृहदेश्वर मंदिर पूर्ववर्ती पल्लव, चालुक्य और पांड्य राजाओं द्वारा बनाए गए किसी भी मंदिर से आकार-प्रकार को देखते हुए बड़ा है। इसका बहुमंजिला विमान 70 मीटर (लगभग 230 फुट) की गगन चुंबी ऊँचाई तक खड़ा है जिसकी चोटी पर एक एकाश्म शिखर है जो अष्टभुज गुंबद की शक्ल की स्तूपिका है। यही वह मंदिर है जहाँ दर्शक को पहली बार दो बड़े गोपुर

नंदी, बृहदेश्वर मंदिर

बृहदेश्वर मंदिर, तंजावुर

देखने को मिलते हैं। इन गोपुरों पर अनेक प्रतिमाएँ बनी हैं जिन्हें बनाने की योजना मंदिर निर्माण के मूल कार्यक्रम में ही शामिल थी। नंदी की विशाल प्रतिमाएँ शिखर के कोनों पर लगी हुई हैं और चोटी पर बना कलश लगभग तीन मीटर और आठ सेंटीमीटर ऊँचा है। सैकड़ों आकृतियाँ विमान की शोभा बढ़ा रही हैं, हालांकि यह संभव है कि ये आकृतियाँ मराठा काल में जोड़ी गई हों और मूल रूप से सभी चोल काल की न हों। मंदिर के प्रमुख देवता शिव हैं जो एक अत्यंत विशाल लिंग के रूप में एक दो मंजिले गर्भगृह में स्थापित हैं। गर्भगृह के चारों ओर की दीवारें पौराणिक आख्यानों से ओत-प्रोत हैं जिन्हें चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

पांच रथ, महाबलीपुरम्

दक्कन की वास्तुकला

कर्नाटक जैसे कई क्षेत्रों में अनेक भिन्न-भिन्न शैलियों के मंदिरों का निर्माण हुआ जिनमें उत्तर तथा दक्षिण भारतीय दोनों क्रमों का प्रयोग हुआ था। कुछ विद्वानों ने तो इस क्षेत्र के मंदिरों को नागर एवं द्रविड़ शैली से हट कर उनकी मिश्रित शैली माना है। यह शैली सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोकप्रिय हुई और जिसका उल्लेख कुछ प्राचीन ग्रंथों में वेसर के नाम से किया गया है।

© NCERT not to be republished

कैलाशनाथ मंदिर, एलोरा

सातवीं शताब्दी के आखिरी और आठवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में एलोरा की महत्वाकांक्षी परियोजना अधिक भव्य बन गई। 750 ई. के आस-पास तक दक्कन क्षेत्र पर आरंभिक पश्चिमी चालुक्यों का नियंत्रण राष्ट्रकूटों द्वारा हथिया लिया गया था। उनकी वास्तुकला की सबसे बड़ी उपलब्धि थी एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर, जिसे हम भारतीय शैलकृत वास्तुकला की कम-से-कम एक हजार वर्ष पूर्व की परम्परा की पराकाष्ठा कह सकते हैं। यह मंदिर पूर्णतया द्रविड़ शैली में निर्मित है और इसके साथ नंदी का देवालय भी बना है। चूंकि यह मंदिर भगवान शिव को समर्पित है जो कैलाशवासी हैं, इसलिए इसे कैलाशनाथ मंदिर की संज्ञा दी गई है। इस मंदिर का प्रवेश द्वार गोपुरम् जैसा है। इसमें चारों ओर उपासना कक्ष और फिर सहायक देवालय बना है जिसकी ऊँचाई 30 मीटर है। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि यह सब एक जीवंत शैलखंड पर उकेरकर बनाया गया है। पहले एक एकाश्म पहाड़ी के एक हिस्से को धैर्यपूर्वक उकेरा (काटा) गया और इस संपूर्ण बहुमंजिली संरचना को पीछे छोड़ दिया गया। एलोरा में राष्ट्रकूट कालीन वास्तुकला काफ़ी गतिशील दिखाई देती है। आकृतियाँ अक्सर असल कद से अधिक बड़ी हैं जो अनुपम भव्यता और अत्यधिक ऊर्जा से ओत-प्रोत हैं।

दक्कन के दक्षिणी भाग यानी कर्नाटक के क्षेत्र में वेसर वास्तुकला की संकर (मिली-जुली) शैलियों के सर्वाधिक प्रयोग देखने को मिलते हैं। पुलकेशिन प्रथम ने यहाँ सर्वप्रथम पश्चिमी चालुक्य राज्य स्थापित किया, जब उसने 543 ई. में बादामी के आस-पास के इलाके को अपने कब्जे में ले लिया। आरंभिक पश्चिमी चालुक्य शासकों ने अधिकांश दक्कन पर आठवीं शताब्दी के मध्य भाग तक शासन किया, जब तक कि राष्ट्रकूटों ने उनसे सत्ता नहीं छीन ली। आरंभिक चालुक्यों ने पहले शैलकृत गुफ़ाएँ बनाईं और फिर उन्होंने संरचनात्मक मंदिर बनवाए। यह गुफ़ाओं में सबसे पुरानी गुफ़ा है जो अपनी विशिष्ट मूर्तिकलात्मक शैली के लिए जानी जाती है। इस स्थल पर पाई गईं सबसे

मंदिर, बादामी

महत्वपूर्ण प्रतिमाओं में से एक नटराज की मूर्ति है जो सप्तमातृकाओं के असली आकार से भी बड़ी प्रतिमाओं से घिरी है। इनमें से तीन प्रतिमाएँ दाहिनी ओर बनी हैं। ये प्रतिमाएँ लालित्यपूर्ण हैं, इनकी शारीरिक संरचना पतली है, चेहरे लंबे बने हैं और इन्हें छोटी धोतियाँ लपेटे हुए दिखाया गया है जिनमें सुंदर चुन्नटें बनी हुई हैं। ये निश्चित रूप से समकालीन पश्चिमी दक्कन या वाकाटक शैलियों से भिन्न हैं जो महाराष्ट्र में पौनार और रामटेक जैसे स्थानों पर देखने को मिलती हैं।

अनेक शैलियों का संकरण और समावेशन चालुक्य कालीन भवनों की विशेषता थी। चालुक्य मंदिरों का एक सर्वोत्तम उदाहरण पट्टडकल में स्थित विरूपाक्ष मंदिर है। यह मंदिर विक्रमादित्य द्वितीय के शासन काल (733–44 ई.) में उसकी पटरानी लोका महादेवी द्वारा बनवाया गया था। यह मंदिर प्रारंभिक द्रविड़ परंपरा का एक सर्वोत्तम उदाहरण है। यहाँ स्थित एक अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल पापनाथ मंदिर है, जोकि भगवान शिव को समर्पित है। यह मंदिर द्रविड़ शैली के पूर्व काल का श्रेष्ठतम उदाहरण है। अन्य पूर्वी चालुक्य मंदिरों की परम्परा के विपरीत बादामी से मात्र पाँच किलोमीटर की दूरी पर स्थित महाकूट मंदिर तथा आलमपुर स्थित स्वर्ग ब्रह्म मंदिर में राजस्थान एवं ओडिशा की उत्तरी

विरूपाक्ष मंदिर, पट्टडकल

© NCERT not to be republished

दुर्गा मंदिर, ऐहोल

शैली की झलक देखने को मिलती है। इसी तरह, ऐहोल (कर्नाटक) का दुर्गा मंदिर इससे भी पूर्व की गजपृष्ठाकार बौद्ध चैत्यों के समान शैली में निर्मित है। यह मंदिर बाद की शैली में निर्मित बरामदे से घिरा हुआ है जिसका शिखर नागर शैली में बना है। अंत में ऐहोल के लाडखान मंदिर का जिक्र करना भी जरूरी होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके निर्माण में पहाड़ी क्षेत्रों के लकड़ी के छत वाले मंदिरों से, जिनके बारे में हम पहले पढ़ चुके हैं, प्रेरणा मिली होगी; दोनों के बीच अंतर केवल इतना ही है कि यह मंदिर पत्थर का बना है, लकड़ी का नहीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि भिन्न-भिन्न शैलियों के ये मंदिर एक स्थान पर कैसे बने अथवा ये भिन्न-भिन्न वास्तुशैलियाँ एक स्थान पर कैसे व्यवहार में आईं? इसका कारण जिज्ञासा था या कुछ नया करके दिखाने की ललक? नि:संदेह ये उन वास्तुकलाविदों की सर्जनात्मक आकांक्षाओं की गतिशील अभिव्यक्तियाँ थीं जो भारत के अन्य भागों में कार्यरत अपने साथी कलाकारों के साथ प्रतिस्पर्धा में संलग्न थे। हमारा स्पष्टीकरण भले ही कुछ भी हो मगर यह निश्चित है कि ये भवन कलाएँ इतिहास के मर्मज्ञों एवं शोधकर्ताओं के लिए अत्यंत रोचक हैं।

सोमनाथपुरम् मंदिर

चोलों और पांड्यों की शक्ति के अवसान के साथ, कर्नाटक के होयसलों ने दक्षिण भारत में प्रमुखता प्राप्त कर ली और वे वास्तुकला के महत्वपूर्ण संरक्षक बन गए। उनकी सत्ता का केंद्र मैसूर था। दक्षिणी दक्कन में लगभग 100 मंदिरों के अवशेष मिले हैं किंतु उनमें से तीन सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं अर्थात् बेलूर, हलेबिड और सोमनाथपुर के मंदिर। संभवत: इन मंदिरों की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे अत्यंत जटिल बनाए गए हैं जबकि पहले वाले मंदिर सीधे वर्गाकार होते थे लेकिन इनमें अनेक आगे बढ़े हुए कोण होते हैं जिनसे इन मंदिरों की योजना तारे जैसी दिखाई देने लगती

है इसीलिए इस योजना को तारकीय योजना कहा जाता है। चूँकि ये मंदिर सेलखड़ी (घिया पत्थर) से बने हुए हैं इसलिए कलाकार अपनी मूर्तियों को बारीकी से उकेर सकते थे। इस बारीकी को विशेष रूप से उन देवी-देवताओं के आभूषणों के अंकन में देखा जा सकता है जो उन मंदिरों पर सजे हुए हैं।

कर्नाटक में हलेबिड में स्थित होयसलेश्वर मंदिर होयसल नरेश द्वारा 1150 ई. में गहरे रंग के परतदार पत्थर (शिस्ट) से बनाया गया था। होयसल मंदिर को संकर या वेसर शैली के मंदिर कहा जाता है क्योंकि उनकी शैली द्रविड़ और नागर दोनों शैलियों से लेकर बीच की शैली है। ये मंदिर अन्य मध्यकालीन मंदिरों से तुलना करने पर अपनी मौलिक तारकीय भू-योजना और अत्यंत आलंकारिक उत्कीर्णनों के कारण आसानी से जाने पहचाने जा सकते हैं।

हलेबिड का मंदिर 'नटराज' के रूप में शिव को समर्पित है। यह एक दोहरा भवन है जिसमें मंडप के लिए एक बड़ा कक्ष है जहाँ नृत्य एवं संगीत का कार्यक्रम सुविधापूर्वक संपन्न किया जा सकता है। प्रत्येक भवन से पहले एक नंदी मंडप है। इस मंदिर और उसके निकटवर्ती बेलूर मंदिर का गुम्बद काफ़ी पहले गिर चुका है, और मंदिर पहले कैसा दिखता होगा इसका अनुमान द्वारों के दोनों ओर स्थित छोटे-छोटे प्रतिरूपों से ही लगाया जा सकता है। केंद्रीय वर्गाकार योजना से जो कोणीय प्रक्षेप आगे निकले हुए हैं वे तारे जैसा प्रभाव

नटराज, हलेबिड

उत्पन्न करते हैं और उन पर पशुओं तथा देवी-देवताओं की अनेकानेक आकृतियाँ उकेरी हुई हैं। इन आकृतियों का उत्कीर्णन अत्यंत जटिल एवं बारीक है। उदाहरण के लिए, इसमें सबसे नीचे की चित्र वल्लरी में महावतों के साथ सैकड़ों हाथियों का जुलूस दिखाया गया है। इन हाथियों में से कोई भी दो हाथी एक जैसी मुद्रा में नहीं हैं।

सन् 1336 में स्थापित विजयनगर ने इटली के निकोलो डिकांटी, पुर्तगाल के डोमिंगो पेइस, फर्नाओ न्यूमिश तथा दुआर्ते बार्बोसा और अफगान अब्द अल-रज्जाक जैसे अंतर्राष्ट्रीय यात्रियों को आकर्षित किया, जिन्होंने इस नगर का विस्तृत विवरण दिया है। इनके अलावा अनेक संस्कृत तथा तेलुगू कृतियों में भी इस राज्य की गुंजायमान साहित्यिक परंपरा का उल्लेख मिलता है। वास्तुकला की दृष्टि से, विजयनगर में सदियों पुरानी द्रविड़ वास्तु शैलियों और पड़ोसी सल्तनतों द्वारा प्रस्तुत इस्लामिक प्रभावों का संश्लिष्ट रूप मिलता है। इनकी मूर्तिकला जो मूल रूप से चोल आदर्शों से निकली थी और जब उन्हीं आदर्शों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थी, उसमें भी विदेशियों की उपस्थिति की झलक दिखाई देती है। उनके पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों और सोलहवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों के बीच के संकलनवादी (मिश्रित) भग्नावशेषों में जो उस समय का इतिहास सुरक्षित है, उससे पता चलता है कि विजयनगर का वह युग धन-धान्य, संपन्नता एवं संस्कृति के सम्मिश्रण का समय था।

बौद्ध और जैन वास्तुकला की प्रगति

अब तक यद्यपि हमने पाँचवीं से चौदहवीं शताब्दियों के दौरान हिंदू वास्तुकला में हुई प्रगति एवं परिवर्तनों पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया था, पर यह भी ध्यान देने योग्य बात

नालंदा विश्वविद्यालय

© NCERT not to be republished

है कि इस काल में बौद्ध और जैन वास्तुकला भी हिंदू वास्तुकला से पीछे नहीं रही, बल्कि कदम से कदम मिलाकर साथ-साथ प्रगति करती रही। एलोरा जैसे स्थलों में भी बौद्ध, हिन्दू और जैन स्मारक साथ-साथ पाए जाते हैं, जैसे कि बादामी, खजुराहो, कन्नौज आदि में किन्हीं दो धर्मों के अवशेष एक-दूसरे के आस-पास पाए जाते हैं।

महाबोधि मंदिर, बोधगया

जब छठी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया तो बिहार और बंगाल का पूर्वी क्षेत्र, जिसे ऐतिहासिक रूप से मगध कहा जाता था, एक साथ जुड़कर एक हो गया और पश्चिम में अनेक छोट-छोटे राजपूत राज्य उभर आए। आठवीं शताब्दी में पाल शासकों ने इस पूर्वी क्षेत्र में शक्ति प्राप्त कर ली। द्वितीय पाल शासक धर्मपाल अत्यंत शक्तिशाली बन गया और उसने शक्तिशाली राजपूत प्रतिहारों को परास्त करके अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। धर्मपाल ने अपने सुदृढ़ साम्राज्य को गंगा नदी के उपजाऊ मैदान में कृषि और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सहारे समृद्ध बना लिया।

बोधगया निश्चित रूप से एक अत्यंत प्रसिद्ध बौद्ध स्थल है। इस तीर्थ स्थल की पूजा तभी से की जाती रही है जब सिद्धार्थ को ज्ञान यानी बुद्धत्व प्राप्त हो गया था और वे गौतम बुद्ध बन गए थे। यहाँ के बोधवृक्ष का तो महत्व है ही क्योंकि सिद्धार्थ ने इसी की छाया में बुद्धत्व प्राप्त किया था, लेकिन बोधगया का महाबोधि मंदिर उस समय ईंटों से बनाए जाने वाले महत्वपूर्ण भवनों की याद दिलाता है। ऐसा कहा जाता है कि बोधिवृक्ष के नीचे सर्वप्रथम जो देवालय बना था, उसका निर्माता सम्राट अशोक था। उस देवालय के चारों ओर जो वेदिका बनी हुई है, वह मौर्य काल के बाद लगभग 100 ई.पू. में बनाई गई थी। मंदिर के भीतर बहुत से आलों-दिवालों में जो प्रतिमाएँ स्थापित हैं, वे पाल राजाओं के शासनकाल में आठवीं शताब्दी में बनाई गई थीं। लेकिन वास्तविक महाबोधि मंदिर जिस अवस्था में आज खड़ा है, वह अधिकतर औपनिवेशिक काल में अपने सातवीं शताब्दी के पुराने रूप में बनाया गया था। मंदिर का रूपांकन असामान्य किस्म का है। न तो इसे पूरी तरह द्रविड़ और न ही नागर शैली का मंदिर कहा जा सकता है। यह नागर मंदिर की तरह संकरा है लेकिन द्रविड़ मंदिर की तरह बिना मोड़ सीधे ऊपर की ओर उठा हुआ है।

नालंदा का मठीय विश्वविद्यालय एक महाविहार है क्योंकि यह विभिन्न आकारों के अनेक मठों का संकुल है। आज तक, इस प्राचीन शिक्षा केंद्र का एक छोटा हिस्सा ही खोदा गया है क्योंकि इसका अधिकांश भाग समकालीन सभ्यता के नीचे दबा हुआ है इसलिए यहाँ आगे खुदाई करना लगभग असंभव है।

नालंदा के बारे में अधिकांश जानकारी चीनी यात्री ह्वेनसांग के अभिलेखों पर आधारित है। इनमें कहा गया है कि एक मठ की नींव कुमार गुप्त प्रथम द्वारा पाँचवीं शताब्दी में डाली गई थी और यह निर्माण कार्य परवर्ती सम्राटों के शासन काल में भी चलता रहा, जिन्होंने इस विलक्षण विश्वविद्यालय का कार्य संपन्न किया। इस बात के प्रमाण/साक्ष्य मिलते हैं

मूर्तिकला की बारीकियाँ, नालंदा

कि बौद्ध धर्म के सभी तीन संप्रदायों—थेरवाद, महायान और वज्रयान—के सिद्धांत यहाँ पढ़ाए जाते थे और उत्तर चीन, तिब्बत और मध्य एशिया तथा दक्षिण पूर्व एशिया में भी श्रीलंका, थाईलैंड, बर्मा और अनेक अन्य देशों के बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए नालंदा और इसके आस-पास स्थित बोधगया तथा कुर्किहार आदि केंद्रों में आते थे। भिक्षु और तीर्थयात्री वापस अपने देश जाते समय अपने साथ छोटी-छोटी प्रतिमाएँ और सचित्र पाँडुलिपियाँ ले जाते थे। इस प्रकार नालंदा जैसे बौद्ध मठ, कला उत्पादन के विशाल केंद्र बन गए थे जिनका प्रभाव एशिया के अन्य सभी बौद्ध धर्मावलंबी देशों की कलाओं पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा था।

नालंदा की गचकारी, पत्थर तथा कांस्य मूर्ति बनाने की कला, सारनाथ की गुप्तकालीन बौद्ध कला से विकसित हुई और उसी पर पूरी तरह निर्भर रही। नौवीं शताब्दी तक आते-आते, सारनाथ की गुप्त शैली और बिहार की स्थानीय परंपरा तथा मध्य भारत की परंपरा के संगम (संश्लेषण) से एक नई शैली का अविर्भाव हुआ जिसे मूर्तिकला की नालंदा शैली कहा जा सकता है। इस नई शैली में मुखाकृतिक विशेषताएँ, अंग-प्रत्यंग, हाव-भाव, वस्त्रों एवं आभूषणों का पहनावा आदि सब अलग किस्म के थे। नालंदा की कला अपनी कारीगरी के उच्च स्तर के लिए सदा जानी-मानी जाती है। इसकी अनेक विशेषताएँ हैं, जैसे—प्रतिमाओं को सोच-समझकर अत्यंत व्यवस्थित रूप में गढ़ा गया है। उनमें कहीं भीड़-भाड़ नहीं दिखाई देती। प्रतिमाएँ आमतौर पर उभार में समतल-सपाट नहीं हैं लेकिन त्रिआयामी रूपों में बनाई गई हैं। प्रतिमाओं के पीछे की पटिया विस्तृत होती है और अलंकार सुकोमल एवं बारीक होते हैं। नालंदा की कांस्य मूर्तियों का काल सातवीं और आठवीं शताब्दी से लगभग बारहवीं शताब्दी तक का है। इनकी संख्या पूर्वी भारत के अन्य सभी स्थलों से प्राप्त कांस्य प्रतिमाओं की संख्या से अधिक है और ये पाल राजाओं के शासन काल में बनी धातु की प्रतिमाओं का काफ़ी बड़ा भाग हैं।

नालंदा की खुदाई

© NCERT not to be republished

पत्थर की मूर्तियों की तरह ये कांस्य प्रतिमाएँ भी प्रारंभ में सारनाथ और मथुरा की गुप्त परंपराओं पर अत्यधिक निर्भर थीं। नालंदा की प्रतिमाएँ प्रारंभ से महायान संप्रदाय के बौद्ध देवी देवताओं का प्रतिरूपण करती थीं, जैसे कि खड़े बुद्ध, बोधिसत्व जैसे कि मंजुश्री कुमार, कमलासनस्थ अवलोकितेश्वर और नाग-नागार्जुन। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दियों के दौरान, जब नालंदा एक महत्वपूर्ण तांत्रिक केंद्र के रूप में उभर आया, तब इन मूर्तियों में वज्रयान संप्रदाय के देवी-देवताओं, जैसे—वज्रशारदा (सरस्वती का ही एक रूप), खसर्पण, अवलोकितेश्वर आदि का बोलबाला हो गया। बुद्ध की मुकुटधारी प्रतिमाओं का प्रतिरूपण बारहवीं शताब्दी के बाद ही शुरू हुआ। एक रोचक तथ्य यह भी है कि अनेक ब्राह्मणिक प्रतिमाएँ जो सारनाथ शैली के अनुरूप नहीं थीं, वे भी नालंदा से मिली हैं। उनमें से अनेक प्रतिमाएँ, स्थल के आस-पास स्थित गाँवों के छोटे-छोटे मंदिरों में आज भी पूजी जाती हैं।

छत्तीसगढ़ में स्थित सीरपुर आरंभिक प्राचीन ओडिशी शैली (550–800 ई.) का स्थल था जहाँ हिंदू तथा बौद्ध दोनों प्रकार के देवालय थे। यहाँ पाई जाने वाली बौद्ध प्रतिमाओं के मूर्तिशास्त्रीय और शैलीगत तत्व अनेक रूपों में नालंदा की प्रतिमाओं जैसे ही हैं। कालांतर में, ओडिशा में अन्य बड़े-बड़े बौद्ध मठ विकसित हो गए। ललितगिरि, वज्रगिरि और रत्नागिरि के मठ उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

नागपट्टनम् (तमिलनाडु) का पट्टननगर भी चोल काल तक बौद्ध धर्म और कला का एक प्रमुख केंद्र बना रहा। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि यह पट्टनम् श्रीलंका के साथ व्यापार करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण था, जहाँ आज भी बड़ी संख्या में बौद्ध धर्मानुयायी रहते हैं। चोल शैली की कांस्य और पत्थर की प्रतिमाएँ नागपट्टनम् में पाई गई हैं।

जैनियों ने भी हिंदुओं की तरह अपने बड़े-बड़े मंदिर बनवाए और अनेक मंदिर और तीर्थ, पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़कर समस्त भारत में स्थान-स्थान पर पाए जाते हैं जो आरंभिक बौद्ध

लक्ष्मण मंदिर, सीरपुर

© NCERT not to be republished

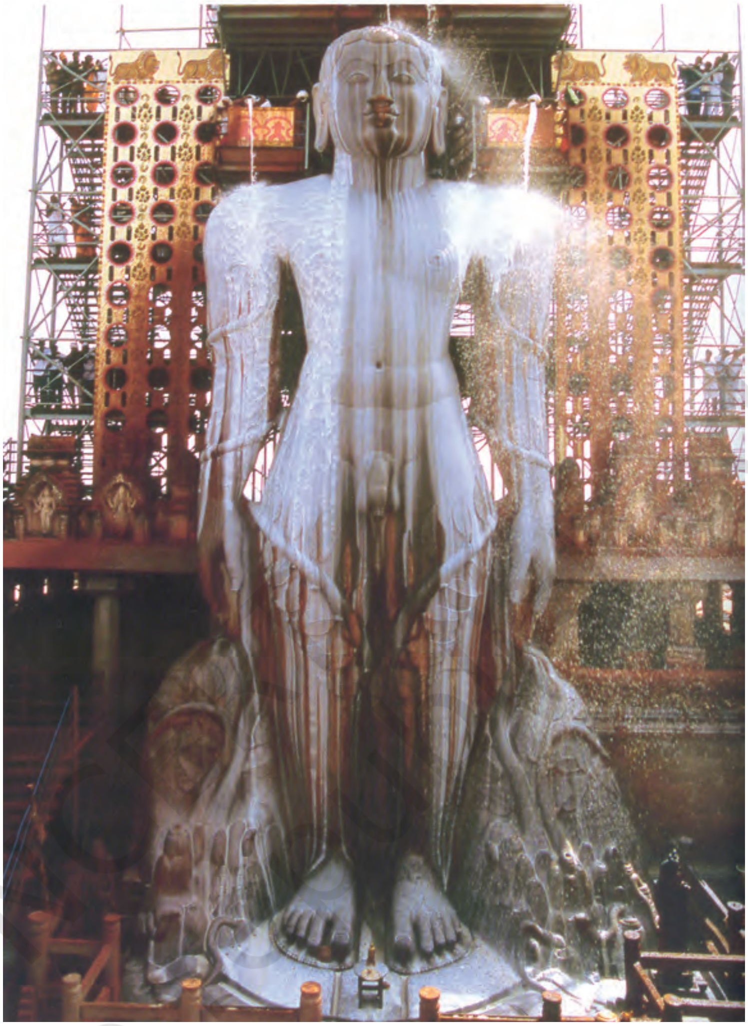

बाहुबली, गोमटेश्वर, कर्नाटक

पूजा स्थलों के रूप में प्रसिद्ध हैं। दक्कन में, वास्तुकला की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थल एलोरा और ऐहोल में देखे जा सकते हैं। मध्य भारत में देवगढ़, खजुराहो, चंदेरी और ग्वालियर में जैन मंदिरों के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण पाए जाते हैं। कर्नाटक में जैन मंदिरों की समृद्ध धरोहर सुरक्षित है जिनमें गोमटेश्वर में भगवान बाहुबली की ग्रेनाइट पत्थर की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रवण बेलगोला स्थित यह विशाल प्रतिमा 18 मीटर यानी 57 फुट ऊँची है और विश्वभर में एक पत्थर से बनी बिना किसी सहारे के खड़ी, सबसे लंबी मूर्ति है। इसे मैसूर के गंग राजाओं के सेनापति एवं प्रधानमंत्री चामुण्डाराय द्वारा बनवाया गया था।

राजस्थान में माउंट आबू पर स्थित जैन मंदिर विमल शाह द्वारा बनाए गए थे। इनका बाहरी हिस्सा बहुत सादा है जबकि भीतरी भाग बढ़िया संगमरमर तथा भारी मूर्तिकलात्मक साज-सज्जा से अलंकृत है, जहाँ गहरी कटाई बेलबूटों जैसी प्रतीत होती है। मंदिर की प्रसिद्धि का कारण यह है कि इसकी हर भीतरी छत पर बेजोड़ नमूने बने हुए हैं और इसकी गुंबद वाली छतों के साथ-साथ सुंदर आकृतियाँ बनी हैं। काठियावाड़ (गुजरात) में पालिताना

के निकट शत्रुंजय की पहाड़ियों में एक विशाल जैन तीर्थस्थल है जहाँ एक साथ जुड़े हुए बीसियों मंदिर दर्शनीय हैं।

इस अध्याय में हमने ईसा की पाँचवीं से छठी शताब्दी तक के मूर्तिकला और वास्तुकला के अवशेषों के बारे में पढ़ा, जो भिन्न-भिन्न किस्म के पत्थर, मिट्टी और कांस्य से बनाए गए थे। निस्संदेह, चांदी और सोने जैसे अन्य माध्यमों से भी प्रतिमाएँ बनाई गईं होंगी, लेकिन उन्हें पिघलाकर और कामों में ले लिया गया होगा। अनेक मूर्तियाँ लकड़ी और हाथी दांत से भी बनाई गई होंगी लेकिन वे अपनी भंगुरता के कारण नष्ट हो गईं होंगी। प्रतिमाओं को अक्सर रंगा भी जाता होगा, मगर उनके रंग भी जलवायविक तत्वों की मार के कारण सैकड़ों सालों तक अक्षुण्ण नहीं रह सकते। इस काल में चित्रकला की भी समृद्ध परंपरा रही थी, मगर उस समय के बचे हुए कुछ ही उदाहरण कुछ धार्मिक भवनों में भित्तियों के रूप में बचे हैं। देश में कांस्य मूर्तियाँ बड़ी संख्या में पाई गई हैं जिनके बारे में अगले अध्याय में चर्चा की जाएगी।

जैन मूर्ति, माउंट आबू

मध्यकालीन भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित प्रमुख कला शैलियों एवं कुछ प्रसिद्ध स्मारकों का यहाँ वर्णन किया गया है। इस बात का ज्ञान आवश्यक है कि हमने जिन असाधारण कलात्मक उपलब्धियों का वर्णन किया है उन्हें व्यक्तिगत रूप से कलाकारों द्वारा किया जाना संभव नहीं था। इन महती परियोजनाओं में स्थापतियों, भवन निर्माताओं, मूर्तिकारों और चित्रकारों ने मिलकर कार्य किया होगा। खासकर इन कलाकृतियों के अध्ययन से हमें तत्कालीन समाज जिसमें इनका निर्माण हुआ, उसके बारे में भली-भांति जानने का अवसर प्राप्त होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय के भवन किस प्रकार के होते थे, उनकी वेश-भूषा क्या थी,और अन्ततः उनकी कला हमें लोगों के धार्मिक इतिहास के प्रति जागरूक करती है। ये धर्म अनेक थे जिनका स्वरूप समय के साथ-साथ बदलता गया। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म में अनेकों देवी-देवता हैं, और भक्ति एवं तंत्र से अभिभूत इस काल का प्रभाव इन पर दिखाई देता है। मंदिर भी संगीत एवं नृत्य

दिलवाड़ा मंदिर, माउंट आबू

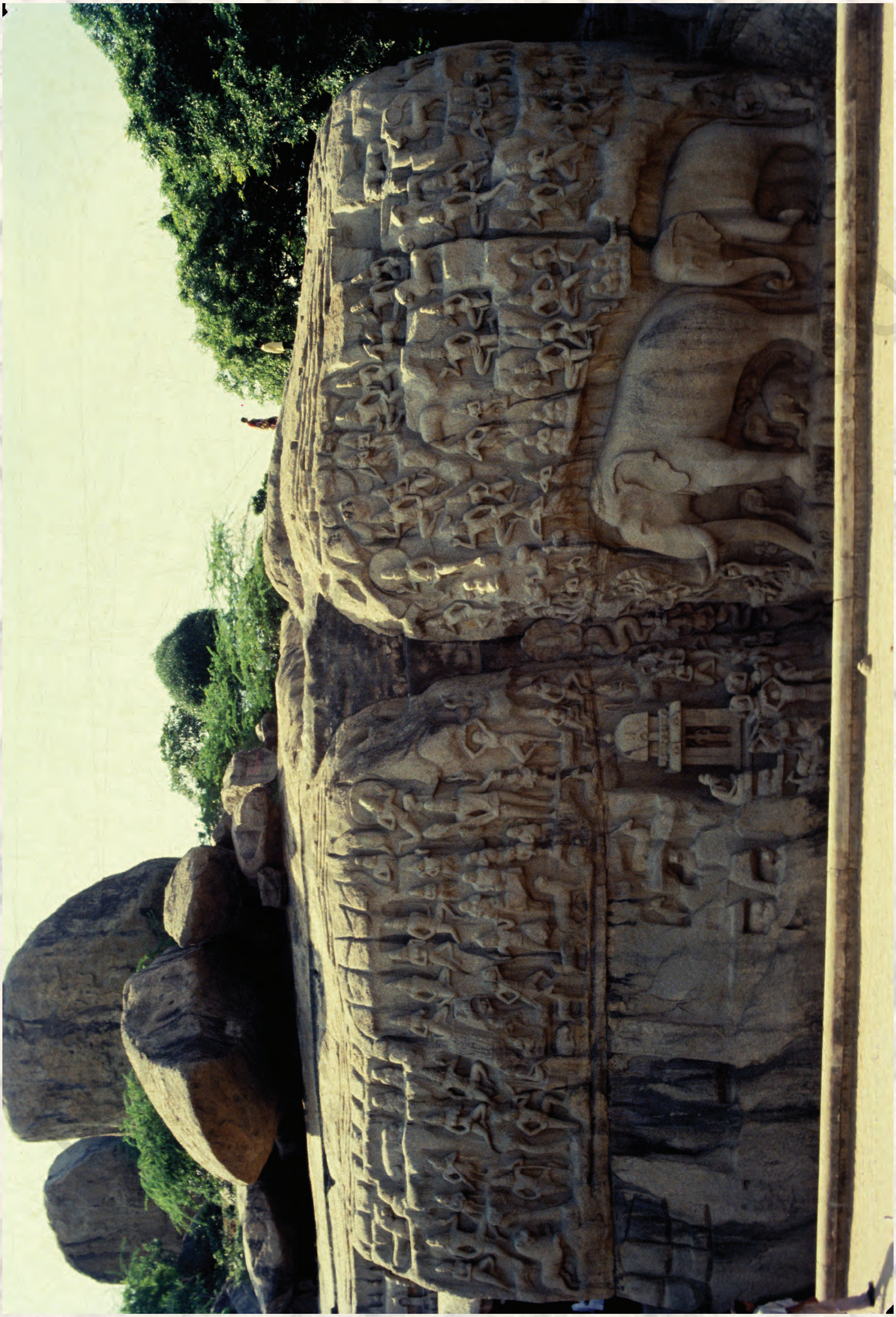

महाबलीपुरम्

महाबलीपुरम् पल्लव काल का एक महत्वपूर्ण पट्टननगर है जहाँ अनेकों शैलकृत एवं स्वतंत्र खड़े मंदिरों का निर्माण सातवीं-आठवीं शताब्दी में हुआ। महाबलीपुरम् का यह विशाल प्रतिमा फलक (पैनल) जिसकी ऊँचाई 15 मीटर एवं लंबाई 30 मीटर है, विश्व में इस प्रकार का सबसे बड़ा और प्राचीनतम पैनल है। इसमें चट्टानों के मध्य एक प्राकृतिक दरार है जिसका उपयोग शिल्पियों द्वारा इतनी सुंदरता से किया गया है कि इस दरार से बहकर पानी नीचे बने कुण्ड में एकत्रित होता है।

विशेषज्ञों ने इसे भिन्न तरीके से वर्णित किया है। कुछ का मानना है कि यह गंगावतरण का प्रकरण है और कुछ इसे किरातार्जुनीयम् की कथा से जोड़ते हैं और कुछ अर्जुन की तपस्या से। किरातार्जुनीयम् पल्लव काल में कवि भारवि की लोकप्रिय रचना थी। अन्य विद्वानों के अनुसार, यह पैनल एक पल्लव राजा की प्रशस्ति है जो कुण्ड के मध्य पैनल की अनूठी पृष्ठभूमि में बैठता होगा।

रिलीफ पैनल में एक मंदिर को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है जिसके सामने तपस्वी और श्रद्धालु बैठे हैं। इसके ऊपर एक टांग पर खड़े योगी का चित्रण है जिसके हाथ सिर के ऊपर उठे हुए हैं जिसे कुछ लोग भगीरथ एवं कुछ अर्जुन मानते हैं। अर्जुन ने शिव से पाशुपत अस्त्र पाने के लिए तपस्या की थी जबकि भगीरथ ने गंगा को पृथ्वी पर अवतरित करने के लिए; इसके बगल में वरद मुद्रा में शिव को खड़ा दिखाया गया है। इस हाथ के नीचे खड़ा छोटा सा गण शक्तिशाली पाशुपत अस्त्र का मानवीकरण है।

सभी चित्रित आकृतियों को कमनीय और सजीव गतिमान दिखाया गया है। व्यक्तियों के अतिरिक्त उड़ते हुए गंधर्वों, पशुओं और पक्षियों की भी आकृतियाँ बनी हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं एक सजीव और सुघड़ हाथी और मंदिर के नीचे बना हिरण का जोड़ा। इनमें सबसे हास्यास्पद चित्रण एक बिल्ली का है जो भगीरथ अथवा अर्जुन की नकल करते हुए अपने पीछे के पंजों पर खड़ी होकर आगे के पंजों को हवा में उठाए हुए है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि यह बिल्ली, चूहों से घिरी हुई है जो उसकी साधना भंग नहीं कर पा रहे हैं। संभवत: यह कलाकार द्वारा भगीरथ अथवा अर्जुन के कठोर तप का सांकेतिक चित्रण है जो अपने आस-पास की स्थिति से विचलित हुए बिना स्थिर खड़ी है।

कैलाश पर्वत को हिलाते हुए रावण

कैलाश पर्वत को हिलाते हुए रावण को एलोरा की गुफ़ा में कई बार चित्रित किया गया है। इनमें सबसे उल्लेखनीय आकृति एलोरा की गुफ़ा संख्या-16 के कैलाशनाथ मंदिर की बाईं दीवार पर प्रस्तुत की गई है। यह आकृति आठवीं शताब्दी में बनाई गई थी। यह एक विशाल प्रतिमा है जिसे भारतीय मूर्तिकला में एक प्रतिमान के रूप में माना गया है। इसमें रावण को कैलाश पर्वत हिलाते हुए दिखाया गया है जिस पर शिव और पार्वती लोगों के साथ विराजमान हैं। इसके चित्र संयोजन को कई भागों में चित्रित किया गया है। इसके निचले भाग में रावण को अपने अनेक हाथों से कैलाश पर्वत को आसानी से हिलाते हुए दिखाया गया है। बहुत से हाथों को गहराईपूर्वक उकेरने से वे त्रि-आयामी प्रभाव उत्पन्न करते हैं। रावण का शरीर कोणात्मक दिखाया गया है और वह अपनी एक टांग भीतर की ओर धकेल रहा है। उसके हाथ रावण की आकृति द्वारा निर्मित भीतरी कक्ष में बाहर की ओर फैले हुए दिखाए गए हैं। ऊपर का आधा हिस्सा तीन श्रेणियों में विभाजित है। मध्य भाग में शिव और पार्वती की आकृति बनी हुई है। कैलाश पर्वत की कँपकँपी से डरकर पार्वती शंकर से सटी हुई दिखाई गईं हैं। खाली जगह में पार्वती की फैली हुई टांगों और मुड़ा हुआ शरीर छाया प्रकाश का अत्यंत नाटकीय प्रभाव प्रस्तुत करते हैं। शिव की प्रतिमा तो विशाल है ही, उनके गणों की आकृतियाँ भी काफ़ी बड़ी-बड़ी हैं। गणों की आकृतियों को सक्रिय दिखाया गया है और वे अपनी गतिविधियों में संलग्न हैं। शिव और पार्वती से ऊपर स्वर्ग की अप्सराएँ आदि, जो इस दृश्य को देख रही हैं, उन्हें स्तंभित मुद्रा में दिखाया गया है। आयतन का बाहर तक निकला होना और खाली स्थान होना एलोरा गुफ़ा की प्रतिमाओं की खास विशेषता है। पूरे घेरे में आकृतियों को बनाकर प्रकाश और अंधकार का उपयोग किया गया है। आकृतियों का धड़ भाग पतला है और उनकी सतह को भारी दिखाया गया है, भुजाएँ पूरे घेरे में पतली हैं। दोनों ओर की सहायक आकृतियों का मोहरा कोणीय है। संपूर्ण रचना (संयोजन) की सभी आकृतियाँ सुंदर हैं और आपस में एक-दूसरे से गुंथी हुई सी प्रतीत होती हैं।

बाहरी दीवारों पर खुदी आकृतियाँ,
कैलाशनाथ मंदिर, एलोरा

लक्ष्मण मंदिर, खजुराहो

खजुराहो के मंदिर चंदेल राजवंश के संरक्षण में बनाए गए थे। वहाँ का लक्ष्मण मंदिर चंदेलों के समय की मंदिर वास्तुकला की पूर्ण विकसित शैली का उदाहरण प्रस्तुत करता है। मंदिर के आधार-तल पर पाए गए शिलालेख के अनुसार इसका निर्माण कार्य 954 ई. तक पूरा हो गया था और चंदेल वंश का सातवां राजा यशोवर्मन उसका निर्माता था। मंदिर की योजना पंचायतन किस्म की है। यह एक भारी पीठ पर बना हुआ है। इसमें एक अर्धमंडप, एक मंडप, एक महामंडप और विमान सहित गर्भगृह है। हर हिस्से की अपनी एक अलग छत है जो पीछे की ओर उठी हुई है। सभी बड़े कक्षों में उनकी दीवारों पर आगे निकले हुए छज्जे हैं, लेकिन दर्शक उन तक नहीं पहुंच सकते; वे मुख्य रूप से वायु तथा प्रकाश के आवागमन के लिए ही बनाए गए हैं। गर्भगृह की बाहरी दीवारें और प्रदक्षिणापथ (परिक्रमा पथ) की बाहरी और भीतरी दीवारें प्रतिमाओं से सजी हुई हैं। गर्भगृह पर बना शिखर बहुत ऊँचा है। यह देखना दिलचस्प है कि गर्भगृह के चारों ओर एक प्रदक्षिणा पथ रखा गया है जो बाहरी दीवारों से ढका है और ये बाहरी दीवारें अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमाओं तथा कामोद्दीप आकृतियों से सुसज्जित हैं। गर्भगृह की बाहरी दीवार भी ऐसी ही आकृतियों से सजी हुई है। खजुराहो के मंदिर अपनी कामुक प्रतिमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। पीठ की दीवार पर भी अनेक कामुक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। मंदिर की असली दीवार पर बहुत कम कामुक प्रतिमाएँ बनाई गई हैं, लेकिन अधिकांश ऐसी प्रतिमाएँ कुर्सी पर बनी हुई हैं। दीवारें कुछ इस प्रकार बनाई गई हैं कि उनमें प्रतिमाएँ रखने के लिए खास स्थान की व्यवस्था हो। भीतरी कक्ष भी अत्यंत सुसज्जित है। गर्भगृह का प्रवेश द्वार भारी भरकम स्तंभों और सरदलों से बनाया गया है जिन पर दरवाज़ों की सजावट के लिए छोटी-छोटी आकृतियाँ उकेरी हुई हैं। मंदिर के चारों कोनों पर देवालय बने हुए हैं जिनमें तीन देवालयों में विष्णु की और एक में सूर्य की प्रतिमा है जिसे देवालय की छत पर बनी केंद्रीय प्रतिमा से पहचाना जा सकता है। इनमें वस्त्र-सज्जा एवं आभूषणों पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है।

कलाओं के मुख्य केन्द्र बन गए, और दसवीं शताब्दी के बाद से मंदिर विशाल भूमि के मालिक हो गए क्योंकि राजाओं ने उन्हें भूमि दान में दी और उनके रख-रखाव में उनकी प्रशासनिक भूमिका थी।

परियोजना कार्य

अपने नगर के भीतर या आस-पास किसी मंदिर या मठ का पता लगाएँ और इसकी महत्वपूर्ण विशेषताओं, जैसे—भिन्न-भिन्न वास्तुकलात्मक लक्षण, मूर्तिकलात्मक शैली, प्रतिमाओं की पहचान, राजवंश से संबंध और संरक्षण के बारे में लिखें। यह बताएँ कि आप जिस मंदिर या मठ का अध्ययन कर रहे हैं, क्या वह राज्य या केंद्रीय सरकार द्वारा संरक्षित है? उस स्मारक की रक्षा के लिए या उसके बारे में जागरूकता उत्पन्न करने के लिए अपने महत्वपूर्ण सुझाव दें।

अभ्यास

1. अध्याय में बताए गए स्थानों को मानचित्र में चिन्हित करें।
2. उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय मंदिरों की प्रमुख विशेषताओं या लक्षणों का वर्णन करें।
3. दक्षिण भारत में मंदिर स्थापत्य/वास्तुकला और मूर्तिकला के विकास के बारे में लिखें।
4. भारत में प्रचलित भिन्न-भिन्न मंदिर शैलियों की तुलना करें।
5. बौद्ध कला के विकास को स्पष्ट करें।

© NCERT not to be republished

7

भारतीय कांस्य प्रतिमाएँ

भारतीय मूर्तिकारों ने पकी मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने और पत्थर तराशने-उकेरने में जितनी कुशलता प्राप्त कर रखी थी, उतनी ही प्रवीणता उन्होंने कांसे को पिघलाने, ढालने और उससे मूर्तियाँ आदि बनाने के कार्य में भी प्राप्त कर ली थी। उन्होंने सिंधु घाटी की सभ्यता के अति प्राचीन काल में ही ढलाई के लिए सिरे पेर्डु यानी 'लुप्त-मोम' की प्रक्रिया सीख ली थी। इसके साथ ही उन्होंने तांबा, जस्ता और टिन जैसी धातुओं को मिलाकर मिश्रधातु बनाने की प्रक्रिया की भी खोज कर ली थी। इस मिश्रधातु को कांस्य (कांसा) कहते हैं।

बौद्ध, हिंदू और जैन देवी-देवताओं की कांस्य प्रतिमाएँ भारत के अनेक क्षेत्रों में पाई गई हैं। इन प्रतिमाओं का काल दूसरी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक का है। इनमें से अधिकांश प्रतिमाएँ आनुष्ठानिक पूजा के लिए बनाई गई थीं, लेकिन ये रूप एवं सौंदर्य की दृष्टि से अत्यंत आकर्षक एवं उत्कृष्ट हैं। इसी के साथ-साथ, धातु ढलाई की प्रक्रिया का उपयोग विभिन्न प्रयोजनों, जैसे कि पकाने, खाने-पीने आदि के लिए रोजमर्रा की जिंदगी में काम आने वाले बर्तनों के लिए किया जाता रहा है। आज के जनजातीय समुदाय भी अपनी कला अभिव्यक्ति के लिए लुप्त मोम की प्रक्रिया को काम में लेते हैं।

संभवतः मोहनजोदड़ो से प्राप्त नाचती हुई लड़की यानी नर्तकी की प्रतिमा सबसे प्राचीन कांस्य मूर्ति है जिसका काल 2500 ई.पू. माना जाता है। इस नारी प्रतिमा के अंग-प्रत्यंग और धड़ सारणी रूप में साधारण हैं। ऐसी ही अनेक छोटी-छोटी प्रतिमाओं का समूह दाइमाबाद (महाराष्ट्र) में हुई पुरातात्विक खुदाइयों में प्राप्त हुआ है। इन प्रतिमाओं का काल 1500 ई.पू. बताया जाता है। यहाँ पाई गई एक रथ की प्रतिमा उल्लेखनीय है जिसके पहिए सामान्य रूप से गोलाकार हैं जबकि उसके चालक (मानव) की आकृति को लंबा बनाया गया है और उसमें आगे जो बैल जुड़े हुए दिखाए गए हैं, वे प्रबल तरीके से सांचे गये हैं।

बिहार राज्य के चौसा स्थल से जैन तीर्थंकरों की अनेक रोचक प्रतिमाएँ पाई गई हैं जो ईसा की दूसरी शताब्दी यानी कुशाण काल की बताई जाती हैं। तीर्थंकरों को निर्वस्त्र दिखलाना ज़रूरी था इसलिए इन कांस्य प्रतिमाओं से पता चलता है कि भारतीय मूर्तिकार पुरुषों के अंग-प्रत्यंग तथा सुडौल मांसपेशियों के निर्माण में कितने अधिक कुशल थे। आदिनाथ या वृषभनाथ की प्रतिमा का निर्माण बहुत कुशलता से किया गया है जिसे उनके कंधों पर फैली हुई लंबी केश लटों से पहचाना जाता है। अन्य तीर्थंकर छोटे घुंघराले केश में दिखाए जाते हैं।

कालियामर्दन, चोल कालीन कांस्य, तमिलनाडु

© NCERT not to be republished

गुजरात और राजस्थान प्राचीन काल से ही जैन धर्म के गढ़ रहे हैं। वडोदरा के निकट अकोटा में जैन कांस्य मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली हैं जिनका काल पाँचवीं शताब्दी के अंत से सातवीं शताब्दी के अंत तक का माना जाता है। ये कांस्य प्रतिमाएँ प्रारंभ में लुप्त-मोम प्रक्रिया से बड़ी सुंदरता के साथ ढाली गई थीं और बाद में उनमें चांदी और तांबे से आँखें, मुकुट और वे वस्त्र बना दिए गए जिन पर इन आकृतियों को बैठा हुआ दिखाया गया है। कुछ प्रसिद्ध जैन कांस्य प्रतिमाएँ बिहार में चौसा से भी मिली हैं जिन्हें अब पटना के संग्रहालय में संभालकर रखा गया है। इसी प्रकार हरियाणा में हाँसी से और तमिलनाडु तथा कर्नाटक के अनेक स्थलों से भी ऐसी कांस्य प्रतिमाएँ मिली हैं।

वडोदरा के पास अकोटा से जो कांस्य मूर्तियाँ बड़ी संख्या में पाई गई हैं, उनसे यह सिद्ध हो गया है कि छठी से नौवीं शताब्दी के बीच गुजरात तथा पश्चिमी भारतीय क्षेत्र में कांस्य की ढलाई की जाती थी। इनमें से अधिकांश मूर्तियाँ महावीर, पार्श्वनाथ या आदिनाथ जैसे जैन तीर्थंकरों की हैं। जैन मूर्तियों का एक नया रूप भी अस्तित्व में आया जिसमें तीर्थंकरों को एक सिंहासन पर विराजमान दिखाया गया है और उनमें ये तीर्थंकर अकेले या तीन से 24 तीर्थंकरों के समूह में प्रस्तुत किए गए हैं। इनके अलावा, कुछ प्रमुख तीर्थंकरों की शासन देवियों या यक्षिणियों की नारी प्रतिमाएँ भी बनाई जाने लगीं। शैली की दृष्टि से कहा जाए तो वे गुप्त तथा वाकाटक दोनों कालों की कांस्य मूर्तियों की विशेषताओं से प्रभावित थीं। चक्रेश्वरी, आदिनाथ की शासनदेवी और अंबिका, नेमिनाथ की शासनदेवी हैं।

बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ खड़ी मुद्रा में पाई गई हैं जिनमें बुद्ध को अभय मुद्रा में दर्शाया गया है। ये प्रतिमाएँ गुप्त काल और उसके बाद के समय यानी पाँचवीं, छठी और सातवीं शताब्दियों में उत्तर भारत विशेषतः उत्तर प्रदेश और बिहार में ढाली गई थीं। इनमें संघति यानी भिक्षु के परिधान (वेश-भूषा) से कंधे को ढका हुआ दिखाया गया है। यह परिधान

शिव परिवार, दसवीं शताब्दी ईसवी, बिहार

गणेश, सातवीं शताब्दी ईसवी, कश्मीर

© NCERT not to be republished

एक ओर दाहिनी भुजा को ढके हुए है और उसका दूसरा सिरा बाईं भुजा को लपेटे हुए दिखाया गया है और उसी भुजा के बढ़े हुए हाथ से चुनटें पकड़ी हुई हैं। ऊपर का वस्त्र नीचे की ओर टखनों तक चौड़ा घुमाव लेकर फैला है, आकृति का मानव शरीर बड़ी चतुराई से बनाया गया है जिससे वस्त्र की पतली किस्म का भी बोध होता है। संपूर्ण आकृति निर्माण सुकोमल तरीके से किया गया है। यह आकृति कुशाण शैली की तुलना में अधिक तरुणाई से भरी हुई और समानुपातिक प्रतीत होती है। धानेसरखेड़ा (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त विशिष्ट कांस्य प्रतिमा में परिधान की तहें मथुरा शैली जैसी ही बनाई गई हैं यानी उसमें कई गिरते घुमाव मोड़ दिखाई देते हैं। सारनाथ शैली के वस्त्र में कोई तहें नहीं दिखाई देतीं। इसका एक विशिष्ट उदाहरण सुलतानगंज, बिहार से प्राप्त प्रतिमा में पाया जाता है जोकि एक काफ़ी बड़ी कांस्य प्रतिमा है। इन कांस्य प्रतिमाओं की विशिष्ट रूप से परिष्कृत शैली एक प्रतिष्ठित गुणवत्ता का प्रामाणिक उदाहरण है।

फोफनार, महाराष्ट्र से प्राप्त बुद्ध की वाकाटक कालीन कांस्य प्रतिमाएँ गुप्त कालीन कांस्य प्रतिमाओं की समकालीन हैं। उनमें ईसा की तीसरी शताब्दी में प्रचलित आंध्र प्रदेश की अमरावती शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और साथ ही उनमें भिक्षुओं के वस्त्र पहनने की शैली में भी काफ़ी परिवर्तन आया दिखाई देता है। बुद्ध का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में स्वतंत्र है इसलिए वस्त्र शरीर के दाहिने हिस्से से लटका हुआ दिखाई देता है जिसके फलस्वरूप प्रतिमा के इस हिस्से पर सतत प्रवाही रेखा दिखाई देती है। बुद्ध की

देवी, चोल कालीन कांस्य प्रतिमा, तमिलनाडु

लुप्त-मोम प्रक्रिया (लॉस्ट-वैक्स प्रोसेस)

लॉस्ट-वैक्स यानी लुप्त-मोम प्रक्रिया में कई चरण होते हैं। सबसे पहले किसी प्रतिमा का मोम का प्रतिरूप हाथों से तैयार किया जाता है। इसे मधुमक्खी के विशुद्ध मोम से बनाते हैं। इसके लिए पहले मोम को आग से पिघलाते हैं और फिर एक महीन कपड़े से छानकर ठंडे पानी से भरे बर्तन में उसे निकालते हैं। यहाँ यह पुनः ठोस हो जाता है, फिर इसे पिचकी या फरनी से दबाते हैं जिससे मोम तार/धागे के आकार में आ जाता है। फिर बनाई गई प्रतिमा (आकृति) के चारों ओर मोम के इन तारों को लपेटा जाता है। इसके बाद मिट्टी, रेत और गोबर के लेप की मोटी परत प्रतिमा के चारों ओर लगाते हैं। इसके एक खुले सिरे पर मिट्टी का प्याला बना दिया जाता है। इसमें पिघली हुई धातु डाली जाती है। उपयोग की जाने वाली धातु का वजन प्रयुक्त मोम से दस गुना अधिक रखा जाता है। अधिकांशतः यह धातु टूटे हुए बर्तनों को पिघलाकर बनाई गई होती है। जब मिट्टी के प्याले में पिघली हुई धातु उड़ेलते हैं, उस समय मिट्टी से ढके सांचे को आग पर रखे रहने देते हैं। जैसे ही अंदर की मोम पिघलती है, धातु नालिकाओं में नीचे की ओर बहती है और मोम की प्रतिमा का आकार ले लेती है। धातु ढलाई की समूची प्रक्रिया को एक धार्मिक अनुष्ठान की तरह गंभीरतापूर्वक संपन्न किया जाता है। बाद में प्रतिमा को छेनी एवं रेती से चिकना किया जाता है और चमकाया जाता है। कांस्य प्रतिमा बनाना काफी मेहनत का काम है और इसके लिए अत्यधिक कुशलता की आवश्यकता होती है। कभी-कभी कांस्य प्रतिमा बनाने के लिए पाँच धातुओं—सोना, चांदी, तांबा, पीतल और सीसे के मिश्रण का उपयोग होता है।

© NCERT not to be republished

गणेश, सातवीं शताब्दी ईसवी, कश्मीर

आकृति के टखनों के स्तर पर लटका हुआ वस्त्र स्पष्टतः वक्ररेखीय मोड़ बनाता है, जब वह बाएं हाथ से पकड़ा हुआ दिखाई देता है।

गुप्त और वाकाटक कालीन कांस्य प्रतिमाओं की एक अतिरिक्त विशेषता यह है कि वे सुबाह्य थीं और बौद्ध भिक्षुक उन्हें व्यक्तिगत रूप से पूजा करने के लिए अपने साथ कहीं भी ले जा सकते थे अथवा बौद्ध विहारों में कहीं भी स्थापित कर सकते थे। इस प्रकार पुरानी शैली के परिष्कार का प्रभाव भारत के अनेक भागों में और भारत से बाहर भी एशियाई देशों में फैल गया।

हिमाचल प्रदेश और कश्मीर के क्षेत्रों में भी बौद्ध देवताओं तथा हिंदू देवी-देवताओं की कांस्य प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। इनमें से अधिकांश मूर्तियाँ आठवीं, नौवीं और दसवीं शताब्दियों की बनी पाई गईं हैं। भारत के अन्य भागों में पाई जाने वाली प्रतिमाओं से अगर इन प्रतिमाओं की तुलना की जाए तो दोनों के बीच स्पष्ट अंतर दिखाई देगा। इनमें एक ध्यान देने योग्य परिवर्तन यह पाया गया कि विष्णु की प्रतिमाएँ नाना रूपों में बनाई जाने लगीं। इन क्षेत्रों में चार सिरों वाले अर्थात् चतुरानन विष्णु की पूजा की जाती थी। यह व्यूह सिद्धांत पर आधारित है और ऐसे चतुरानन विष्णु को बैकुंठ विष्णु या बैकुंठवासी विष्णु कहा जाता है। विष्णु की चतुरानन मूर्ति का मध्यवर्ती या केंद्रीय मुख वासुदेव का होता है और बाकी दो मुख नरसिंह और वराह के होते हैं। नरसिंह अवतार या महिषासुरमर्दिनी की मूर्तियाँ हिमाचल प्रदेश में पाई जाने वाली मूर्तियों में अत्यंत प्रचलित एवं लोकप्रिय रही हैं।

कांस्य प्रतिमा, हिमाचल प्रदेश

© NCERT not to be republished

नालंदा जैसे बौद्ध केंद्रों में, नौवीं शताब्दी के आस-पास बिहार और बंगाल क्षेत्र में पाल राजवंश के शासन काल के दौरान, कांस्य की ढलाई की एक नई शैली अस्तित्व में आई। फलस्वरूप कुछ ही शताब्दियों के अंतराल में नालंदा के पास स्थित कुर्किहार के मूर्तिकार गुप्त काल की श्रेष्ठ शैली को पुनर्जीवित करने में सफल हो गए। इस काल की प्रतिमाओं में, चतुर्भुज अवलोकितेश्वर की कांस्य प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह प्रतिमा मनोहर त्रिभंग मुद्रा में पुरुष आकृति का एक अच्छा उदाहरण है। अब बौद्ध देवियों की भी पूजा की जाने लगी थी, जो बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के विकास का प्रभाव था। इसके अंतर्गत तारा देवी की मूर्तियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हो गईं। इन मूर्तियों में तारा को सिंहासन पर विराजमान दिखाया गया है, उनके साथ एक टेढ़ी कमलनाल उगी हुई दिखाई गई है और उनका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ दिखाया गया है।

नटराज, चोलकालीय, बारहवीं शताब्दी ईसवी

कांस्य ढलाई की तकनीक और परंपरागत देवी-देवताओं की कांस्य प्रतिमाएँ बनाने का कार्य मध्यकाल के दौरान दक्षिण भारत में विकास के उच्च स्तर पर पहुँच गया था। यद्यपि पल्लव काल में आठवीं तथा नौवीं शताब्दियों के दौरान कांस्य प्रतिमाएँ बहुतायत में बनाई जाने लगी थीं लेकिन दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच तमिलनाडु में चोल वंश के शासन काल में कुछ अत्यंत सुंदर एवं उत्कृष्ट स्तर की कांस्य प्रतिमाएँ बनाई गईं। कांस्य प्रतिमाएँ बनाने की उत्तम तकनीक और कला आज भी दक्षिण भारत, विशेष रूप से कुंभकोणम् में प्रचलित है। तथापि दसवीं शताब्दी में इस कला के अनेक संरक्षक रहे जिनमें चोल वंशीय विधवा महारानी सेंबियान महादेवी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

नटराज

इस प्रतिमा में शिव को उनकी दाहिनी टांग पर संतुलित रूप से खड़े हुए और उसी टांग के पंजे से अज्ञान या विस्मृति के दैत्य 'अपस्मार' को दबाते हुए दिखाया गया है। साथ ही शिव भुजंगत्रासित की स्थिति में अपनी बाईं टांग उठाए हुए हैं जो 'तिरोभाव' यानी भक्त के मन से माया या भ्रम का परदा हटा देने का द्योतक है। उनकी चारों भुजाएँ बाहर की ओर फैली हुई हैं और मुख्य दाहिना हाथ 'अभय हस्त' की मुद्रा में उठा हुआ है। उनका ऊपरी दायां हाथ डमरू, जो उनका प्रिय वाद्य है, पकड़े हुए तालबद्ध ध्वनि उत्पन्न करता हुआ दिखाया गया है। ऊपरी बायां 'दोलहस्त' मुद्रा में दाहिने हाथ की 'अभयहस्त' मुद्रा से जुड़ा हुआ है। उनकी जटाएं दोनों ओर छिटकी हुई हैं और उस वृत्ताकार ज्वाला को छू रही हैं जो नृत्यरत संपूर्ण आकृति को घेरे हुए है।

नटराज के रूप में नृत्य करते हुए शिव की सुप्रसिद्ध प्रतिमा का विकास चोल काल में पूर्ण रूप से हो चुका था और उसके बाद तो इस जटिल कांस्य प्रतिमा के नाना रूप तैयार किए गए। शिव को इस ब्रह्माण्ड युग यानी वर्तमान विश्व के अंत के साथ जोड़ा जाता है और उनकी यह तांडव नृत्य की मुद्रा भी हिंदुओं की पुराण कथा के इस प्रसंग से ही जुड़ी है। तथापि, शिव अपने अनन्य भक्त के दृष्टिजगत में सदा इस नृत्य मुद्रा में उपस्थित रहते हैं। यह पौराणिक कथा चिंदबरम् से जुड़ी है इसलिए शिव को विशेष रूप से इसी रूप में पूजा जाता है। इसके अलावा शिव को भारत में नृत्य कला का अधिष्ठाता देवता भी माना जाता है।

आठवीं शताब्दी की पल्लव कालीन कांस्य प्रतिमाओं में शिव की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें शिव को अर्द्धपर्यक आसन में (एक टांग को झुलाते हुए) बैठा हुआ दिखाया गया है। उनका दाहिना हाथ आचमन मुद्रा में है, जो यह दर्शाता है कि शिव विषपान करने वाले हैं।

हिंदू धर्म में शिव को परमात्मा और संपूर्ण ब्रह्मांड का कर्त्ता, धर्ता और संहर्ता भी माना जाता है। यह सब प्रतीकात्मक रूप से नटराज की सुप्रसिद्ध प्रतिमा में प्रस्तुत किया गया है। शिव का नटराज रूप में प्रस्तुतीकरण चोल काल तक पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। इसके बाद भी उनके इस स्वरूप की भिन्न-भिन्न कांस्य प्रतिमाएँ बनाई जाती रहीं।

तमिलनाडु के तंजावुर (तंजौर) क्षेत्र में शिव की प्रतिमाओं के नाना रूप विकसित हुए। इस संदर्भ में नौवीं शताब्दी की कल्याणसुंदर मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें पाणिग्रहण यानी विवाह संस्कार को दो अलग-अलग आकृतियों के साथ प्रतिमाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शिव (वर) अपना दाहिना हाथ बढ़ाकर पार्वती (वधू) के दाहिने हाथ को स्वीकार करते हैं। पार्वती के मुख पर लज्जा भाव की अभिव्यक्ति दर्शाई गई है। अर्द्धनारीश्वर मूर्ति में शिव और पार्वती के सम्मिलित रूप को अत्यंत कौशल के साथ एक ही प्रतिमा में प्रस्तुत किया गया है। पार्वती की अनेक छोटी-बड़ी सुंदर एवं स्वतंत्र मूर्तियाँ भी मिलती हैं जिनमें पार्वती को शालीनता के साथ त्रिभंग मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है।

सोलहवीं शताब्दी के दौरान, जिसे आंध्र प्रदेश में विजयनगर काल कहा जाता है, मूर्तिकारों ने अपने राजसी संरक्षक की स्मृति को शाश्वत बनाए रखने के लिए उनकी प्रतिमाएँ बनाने का प्रयास भी किया। तिरुपति में, कांस्य की आदमकद प्रतिमाएँ बनाई गईं जिनमें कृष्ण देव राय को अपनी दो महारानियों तिरुमालंबा और चित्र देवी के साथ प्रस्तुत किया गया है। मूर्तिकार ने उनके वास्तविक चेहरों की विशेषताओं को कुछ आदर्श तत्त्वों के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आदर्श रूप में प्रस्तुत करने की यह भावना शरीर के अन्य अंगों के प्रसंग में भी दिखाई देती है जिससे शरीर रौबदार और शानदार प्रतीत होता है। मूर्ति के रूप में खड़े हुए राजा तथा रानियों को प्रार्थना करते हुए दिखाया गया है और उनके दोनों हाथ नमस्कार मुद्रा में जुड़े हुए दिखाए गए हैं।

अभ्यास

1. आपके विचार से क्या कांसे की ढलाई की तकनीक एक सतत प्रक्रिया है और इसका विकास आने वाले समय तक कैसे हुआ?
2. भारत में पत्थर और धातु से मूर्तियाँ बनाने की कला साथ-साथ चलती रही। आपकी राय में, इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच तकनीक, शैली और कार्य/उपयोग की दृष्टि से क्या-क्या समानताएँ और अंतर हैं?
3. चोल कालीन कांस्य प्रतिमाओं को सर्वाधिक परिष्कृत क्यों माना जाता है?
4. चोल काल के अतिरिक्त, हिमाचल प्रदेश और कश्मीर से पायी गईं कांस्य प्रतिमाओं के मुद्रित चित्र खोजें।

© NCERT not to be republished

8

इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला के कुछ कलात्मक पहलू

ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म स्पेन और भारत की ओर फैला। भारत में इस्लाम विशेष रूप से मुस्लिम सौदागरों, व्यापारियों, धर्मगुरुओं और विजेताओं के साथ आया, जो यहां लगभग छह सौ वर्षों तक समय-समय पर आते रहे। वैसे तो मुस्लिम लोगों ने ईसा की आठवीं शताब्दी से ही सिंधु, गुजरात आदि प्रदेशों में इमारतें, निर्माण बनाने का काम शुरू कर दिया था, मगर बड़े पैमाने पर भवन निर्माण का कार्य ईसा की तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में तुर्कों का शासन स्थापित हो जाने के बाद ही शुरू हुआ, जब उन्होंने उत्तर भारत को जीतकर दिल्ली सल्तनत की स्थापना की।

बारहवीं शताब्दी तक भारत भव्य परिवेश में विशाल भवन बनाने की प्रक्रिया से पूरी तरह परिचित हो चुका था। उस समय यहां भवन निर्माण और अलंकरण की अनेक विधियाँ प्रचलित और लोकप्रिय हो चुकी थीं, जैसे—शहतीरों, टोडों और अनेक खंभों के सहारे छतों का निर्माण, चाप, मेहराब, डाट, तोरण आदि का निर्माण। चापें, लकड़ी और पत्थर की बनाई जाती थीं, इसलिए ये ऊपर के ढांचे के बोझ को सहने-उठाने के लिए पूरी तरह सक्षम नहीं होती थीं। किन्तु अब गुंबदों का बोझ उठाए रखने के लिए ढोलदार चापों/मेहराबों की जरूरत पड़ी। ऐसे मेहराबों को डाट पत्थर से चापबंध के माध्यम से बनाया जाता था। लटकती हुई बगली डाट पर बने गुम्बद के अंदर खम्भे न होने के कारण जगह ज्यादा हो गई।

इन देशांतरणों और विजयों पर एक ध्यान देने योग्य पहलू यह रहा कि मुस्लिम शासकों ने स्थानीय सामग्रियों, संस्कृतियों और परंपराओं को अपने साथ लाई गई तकनीकों के साथ अपना लिया। उन्होंने इन तकनीकों को देखा-परखा, कुछ को स्वीकार, कुछ को अस्वीकार किया और कुछ को यथोचित परिवर्तन के साथ अपना लिया। इस प्रकार, वास्तुकला के क्षेत्र में अनेक संरचनात्मक तकनीकों, शैलियों, रूपों और साज-सज्जाओं का मिश्रण तैयार हो गया। इस मिश्रण के फलस्वरूप भवन निर्माण की जो तकनीकें अस्तित्व में आईं, उन्हें सामूहिक रूप से इण्डो-इस्लामिक, इंडो-सारसेनिक (इंडो आरबिक) वास्तुकला कहा जाता है।

हिंदू यह मानते हैं कि परमेश्वर नाना रूपों में सर्वत्र व्याप्त है, जबकि मुस्लिम धर्मानुयायी यह सोचते हैं कि अल्लाह एक है और मुहम्मद उनके पैगम्बर हैं। अत: हिंदू हर प्रकार की सतहों पर प्रतिमाओं और चित्रों को सराहते हैं। मुस्लिमों को किसी भी सजीव रूप की, किसी भी सतह पर प्रतिकृति बनाना मना है इसलिए उन्होंने प्लास्टर या पत्थर पर 'अरबस्क' यानी बेल-बूटे का काम, ज्यामितीय प्रतिरूप और सुलेखन की कलाओं का विकास किया।

कुतुब मीनार, दिल्ली

© NCERT not to be republished

संरचनाओं के रूपाकार

अब इस बुनियादी जानकारी के बाद इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला की कहानी आगे बढ़ती है। भारत में मुस्लिम आगमन के समय यहाँ धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष, दोनों प्रकार की वास्तुकला विद्यमान थी। उसमें मुस्लिम शासकों तथा संपन्न लोगों द्वारा अनेक प्रकार के छोटे-बड़े भवन जोड़े जाने लगे, जैसे—रोजमर्रा की इबादत के लिए मस्जिदें और जामा मस्जिद, मकबरे, दरगाहें, मीनारें, हमाम, सुनियोजित बाग-बगीचे, मदरसे, सरायें या कारवाँ सरायें, कोस मीनारें आदि।

विश्व के अन्य भागों की तरह, भारत में भी वास्तुकलात्मक भवन ऐसे लोगों द्वारा बनाए गए थे जिनके पास धन इकट्ठा हो गया था। उतरते क्रम में देखें तो वे शासक और सामंत तथा उनके परिवार, सौदागर, व्यापारी और उनकी श्रेणियाँ, ग्रामीण संभ्रांत वर्ग और किसी पंथ के अनुयायीगण थे। इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला पर सीरियाई, फारसी और तुर्की प्रभाव तो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन भारतीय वास्तुकलात्मक तथा आलंकारिक शैलियों तथा सोचों ने भी इण्डो-इस्लामिक संरचना तथा निर्माण कार्यों को अत्यधिक प्रभावित किया। इसके अलावा सामग्रियों की उपलब्धता, संसाधनों तथा कौशलों की परिसीमा और संरक्षकों की सौंदर्यानुभूति ने भी इस वास्तुकला पर पर्याप्त प्रभाव डाला। अन्य देशों की तरह मध्यकालीन भारत के लोगों के लिए धर्म और धार्मिकता बहुत महत्वपूर्ण थे, फिर भी उन्होंने दूसरों के वास्तुकलात्मक तत्वों को उदारतापूर्वक अपनाया।

शैलियों के प्रकार

इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला को परंपरा की दृष्टि से कई श्रेणियों में बांटा जाता है जिनके नाम हैं—शाही शैली (दिल्ली सल्तनत), प्रान्तीय शैली (मांडु, गुजरात, बंगाल और जौनपुर), मुगल शैली (दिल्ली, आगरा और लाहौर) और दक्कनी शैली (बीजापुर, गोलकोंडा)। ये श्रेणियाँ वास्तुकलात्मक कार्यों की विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए बनाई गई हैं, इसलिए इन्हें अपरिवर्तनीय खांचों में बांधकर नहीं रखा जा सकता।

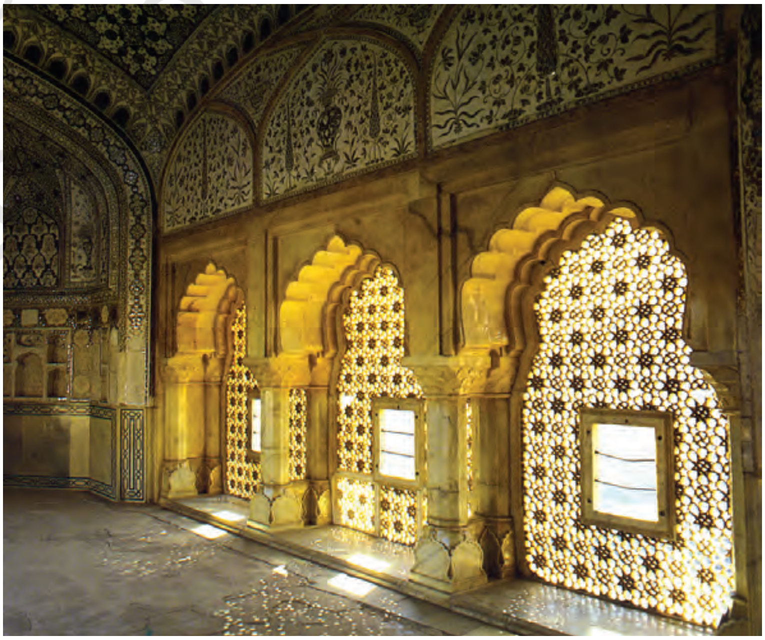

जटिल जाली का काम, आमेर किला, जयपुर

© NCERT not to be republished

उदारतापूर्वक ग्रहण और प्रभाव

प्रान्तीय शैलियों में, बंगाल और जौनपुर की वास्तुकला को अलग माना जाता है। गुजरात की वास्तुकला का एक अलग क्षेत्रीय स्वरूप था, क्योंकि उसके संरक्षकों ने मकबरों, मस्जिदों और दरगाहों के लिए क्षेत्रीय मंदिर परंपराओं के कई तत्व अपना लिए थे, जैसे कि तोरण, मेहराबों में सरदल, लिंटल, घंटी और जंजीर के नमूनों का उत्कीर्णन और उत्कीर्णित फलक जिनमें वृक्ष उकेरे गए थे। इसके विपरीत, सरखेज के शेख अहमद खट्टू की पंद्रहवीं शताब्दी में सफेद संगमरमर से बनी दरगाह ने रूप और साज-सज्जा में मुगल मकबरों को बहुत प्रभावित किया।

अन्य सज्जात्मक रूप

इन रूपों में कटाव, उत्कीर्णन या गचकारी के जरिए प्लास्टर पर डिजाइन कला शामिल है। इन डिजाइनों को सादा छोड़ दिया जाता था या उनमें रंग भरे जाते थे। नमूने पत्थर पर पेंट किए जाते थे या पत्थर में उकेरे जाते थे। इन नमूनों में तरह-तरह के फूल शामिल थे। ये फूल उपमहाद्वीप में और बाहरी स्थानों पर खासतौर पर ईरान में लगते थे। चापों/मेहराबों के भीतरी मोड़ों में कमल की कली के नमूने बनाए जाते थे। दीवारों को भी सरू, चिनार और अन्य वृक्षों तथा फूलदानों से सजाया जाता था। भीतरी छत को सजाने के लिए फूलों के अनेक मिश्रित नमूनों को काम में लिया जाता था। इनकी डिज़ाइनें कपड़ों और गलीचों पर भी पाई जाती थीं। चौदहवीं, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में, दीवारों और गुंबदों की सतहों पर टाइलें भी लगाई जाती थीं। उस समय लोकप्रिय रंग नीला, फिरोजी, हरा और पीला थे। उसके बाद सतही सजावट के लिए खासतौर पर दीवारों के हाशियों के लिए चारखाना या चौपड़ पच्चीकारी की तकनीक का इस्तेमाल किया जाने लगा। कभी-कभी भीतरी दीवारों और चंदोवों पर लाजवर्द मणि (लेपिस लेजुली) का भी प्रयोग किया जाता था। अन्य किस्म की सजावटों में अरबस्क यानी बेलबूटे के काम, सुलेखन और ऊंचे तथा नीचे उभारदार उत्कीर्णन शामिल थे। जालियों का प्रयोग भी बहुतायत से होता था। उच्च उभारदार उत्कीर्णन त्रि-आयामी जैसा दिखाई देता था। चापें, मेहराबें सादी और सिमटी हुई थीं और कभी-कभी ऊँची और तीखी भी होती थीं। सोलहवीं शताब्दी और उससे आगे चापें तिपुलिया या बहुत-से बेल-बूटों वाली बनाई जाने लगीं। चापों के स्कन्ध गोल आभूषणों या उभरवां नक्काशी से सजे होते थे। व्योमरेखा केंद्रीय गुम्बद एवं अन्य छोटे गुम्बदों, छत्रियों और छोटी-छोटी मीनारों का मिला-जुला दृश्य प्रस्तुत करती थीं। केंद्रीय गुंबद की चोटी पर एक उलटे कमल पुष्प का नमूना और एक धातु या पत्थर का कलश होता था।

दीवार पर डैडो पैनल, आगरा

पिएत्रा द्यूरा का काम, आगरा

भवन-निर्माण की सामग्री

भवन निर्माण के लिए सबसे अधिक लोकप्रिय मसाला (सामग्री) रोड़ी कंकड़ आदि से चिनाई करने का मिलावन था। उस समय के सभी भवनों की दीवारें काफी मोटी होती थीं। इन दीवारों को चुनने के बाद उन पर चूने की लिपाई की जाती थी या पत्थर के चौके जड़े जाते थे। निर्माण के काम में कई तरह के पत्थरों का इस्तेमाल होता था, जैसे—स्फटिक, बलुआ पत्थर, पीला पत्थर, संगमरमर आदि। दीवारों को अंतिम रूप देने तथा आकर्षक बनाने के लिए बहुरंगी टाइलों का प्रयोग किया जाता था। सत्रहवीं शताब्दी के शुरू होते-होते भवन निर्माण के कार्य में ईंटों का भी प्रयोग होने लगा। इनसे निर्माण कार्य में अधिक सरलता और नम्यता आ गई। इस चरण की मुख्य बात यह थी कि स्थानीय सामग्रियों पर निर्भरता बढ़ गई।

किला/दुर्ग

ऊंची-मोटी प्राचीरों, फसीलों व बुर्जों के साथ विशाल दुर्ग, किले बनाना मध्यकालीन भारतीय राजाओं तथा राजघरानों की विशेषता थी, क्योंकि ऐसे अभेद्य किलों को अक्सर राजा की शक्ति का प्रतीक माना जाता था। जब ऐसे किलों को आक्रमणकारी सेना द्वारा अपने कब्जे में कर लिया जाता था तो पराजित शासक की संपूर्ण शक्ति और प्रभुसत्ता उससे छिन जाती थी क्योंकि उसे विजेता राजा के आधिपत्य को स्वीकार करना पड़ता था। इस तरह के कई दुर्भेद्य, विशाल और जटिल दुर्ग चित्तौड़, ग्वालियर, देवगिरि/दौलताबाद और गोलकुण्डा में पाए जाते हैं जिन्हें देखकर दर्शक दंग रह जाते हैं और उनकी कल्पनाशक्ति कुंठित पड़ती दिखाई देती है।

दुर्गों के निर्माण के लिए पहाड़ों की प्रभावशाली ऊंचाइयों का उपयोग अधिक लाभप्रद समझा जाता था। इन ऊंचाइयों के कई फायदे थे, जैसे—इन पर चढ़कर संपूर्ण क्षेत्र को दूर-दूर तक देखा जा सकता था। सुरक्षा की दृष्टि से भी ये ऊंचाइयाँ सामरिक महत्व रखती थीं। उनमें आवास और दफतरी भवन बनाने के लिए बहुत खाली जगह होती थी और सबसे बड़ी बात तो यह कि इनसे आम लोगों तथा आक्रमणकारियों के मन में भय पैदा होता था। ऐसी ऊँचाइयों पर बने किलों के और भी कई

दौलताबाद किला

© NCERT not to be republished

ग्वालियर का किला

फायदे थे जिनमें से एक यह था कि किले के चारों ओर, बाहरी दीवारों के एक के बाद एक कई घेरे बनाए जाते थे जैसा कि गोलकुण्डा में देखने को मिलता है। इन बाहरी दीवारों को तोड़कर भीतर किले में पहुंचने के लिए शत्रु सेना को स्थान-स्थान पर लड़ाई लड़नी होती थी।

दौलताबाद के किले में शत्रु को धोखे में डालने के लिए अनेक सामरिक व्यवस्थाएँ की गई थीं, जैसे— उसके प्रवेश द्वार दूर-दूर पर टेढ़े-मेढ़े ढंग से बेहद मजबूती के साथ बनाए गए थे जिन्हें हाथियों की सहायता से भी तोड़ना और खोलना आसान नहीं था। यहां एक के भीतर एक यानी दो किले बनाए गए थे जिनमें दूसरा किला पहले किले की अपेक्षा अधिक ऊंचाई पर बनाया गया था और उस तक पहुंचने के लिए एक भूल-भुलैया को पार करना पड़ता था और इस भूल-भुलैया में लिया गया एक भी गलत मोड़ शत्रु के सैनिकों को चक्कर में डाल देता था या सैकड़ों फुट नीचे खाई में गिराकर मौत के मुंह में पहुंचा देता था।

ग्वालियर का किला इसलिए अजेय माना जाता था क्योंकि इसकी खड़ी ऊँचाई एकदम सपाट थी और उस पर चढ़ना असंभव था। इसे आवास की व्यवस्था के अलावा और भी कई कामों में लिया जाता था। बाबर को वैसे तो हिंदुस्तान की बहुत-सी चीजों में कोई अच्छाई नहीं दिखाई दी, पर वह भी ग्वालियर के किले को देखकर भयभीत हो गया था। चित्तौड़गढ़ को एशिया का सबसे बड़ा किला माना जाता है और यह सबसे लंबे समय तक शक्ति का केंद्र बना रहा। इसमें कई तरह के भवन हैं जिनमें से कुछ विजय एवं वीरता के स्मारक स्तंभ एवं शिखर हैं। इसमें अनेक जलाशय हैं। इस किले के प्रधान सेनापतियों तथा सैनिकों के साथ अनेक वीरगाथाएँ जुड़ी हैं। इसके अलावा इसमें ऐसे कई स्थल हैं जो यहां के नर-नारियों के त्याग-तपस्या और बलिदान की याद दिलाते हैं। इन सभी किलों का एक दिलचस्प पहलू यह है कि इनमें स्थित राजमहलों ने अनेक शैलियों के आलंकारिक प्रभावों को बड़ी उदारता के साथ अपने आप में संजो रखा है।

© NCERT not to be republished

चाँद मीनार, दौलताबाद

मीनारें

स्तंभ या गुम्बद का एक अन्य रूप मीनार थी, जो भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वत्र पायी जाती है। मध्य काल की सबसे प्रसिद्ध और आकर्षक मीनारें थीं—दिल्ली में कुतुब मीनार और दौलताबाद के किले में चाँद मीनार। इन मीनारों का दैनिक उपयोग नमाज या इबादत के लिए अज़ान लगाना था। तथापि इसकी असाधारण आकाशीय ऊंचाई शासक की शक्ति का प्रतीक थी जो उसके विरोधियों के मन में भय पैदा करती रहती थी, चाहे वे विरोधी समानार्थी हों या अन्य किसी धर्म के अनुयायी।

कुतुब मीनार का संबंध दिल्ली के संत ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी से भी जोड़ा जाता है। तेरहवीं सदी में बनाई गई यह मीनार 234 फुट ऊंची है। इसकी चार मंजिलें हैं जो ऊपर की ओर क्रमश: पतली या संकरी होती चली जाती हैं। यह बहुभुजी और वृत्ताकार रूपों का मिश्रण है। यह अधिकतर लाल और पांडु रंग के बलुआ पत्थर की बनी है, अलबत्ता इसकी ऊपरी मंजिलों में कहीं-कहीं संगमरमर का भी प्रयोग हुआ है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके बारजे अत्यंत सजे हुए हैं और इसमें कई शिलालेख हैं जिन पर फूल-पत्तियों के नमूने बने हैं।

चाँद मीनार जो पंद्रहवीं सदी में बनाई गई थी, 210 फीट ऊँची है। इसकी चार मंजिलें हैं जो ऊपर की ओर क्रमश: पतली होती चली जाती हैं। अब यह आड़ू रंग से पुती हुई है। इसका बाहरी भाग कभी पकी हुई टाइलों पर बनी द्विरेखीय सज्जापट्टी और बड़े-बड़े अक्षरों में खुदी कुरान की आयतों के लिए प्रसिद्ध था। यद्यपि यह मीनार एक ईरानी स्मारक की तरह दिखाई देती है, लेकिन इसके निर्माण में दिल्ली और ईरान के वास्तुकलाविदों के साथ-साथ स्थानीय वास्तु कलाकारों का भी हाथ था।

मकबरे

शासकों और शाही परिवार के लोगों की कब्रों पर विशाल मकबरे बनाना मध्य कालीन भारत का एक लोकप्रिय रिवाज़ था। ऐसे मकबरों के कुछ सुप्रसिद्ध उदाहरण हैं—दिल्ली स्थित गयासुद्दीन तुगलक,

इतमादुद्दौला का मकबरा, आगरा

© NCERT not to be republished

हुमायूँ, अब्दुर्रहीम खानखाना और आगरा स्थित अकबर व इतमादुद्दौला के मकबरे। मकबरा यह सोचकर बनाया जाता था कि मज़हब में सच्चा विश्वास रखने वाले इन्सान को कयामत के दिन इनाम के तौर पर सदा के लिए जन्नत (स्वर्ग) भेज दिया जाएगा जहां हर तरह का ऐशोआराम होगा। इसी स्वर्ग प्राप्ति की कल्पना को लेकर मकबरों का निर्माण किया जाने लगा। शुरू-शुरू में तो इन मकबरों की दीवारों पर कुरान की आयतें लिखी जाती थीं मगर आगे चलकर इन मकबरों को स्वर्गीय तत्वों के बीच में, जैसे—बाग-बगीचों के भीतर या किसी जलाशय या नदी के किनारे बनाया जाने लगा जैसा कि हम हुमायूँ के मकबरे और ताजमहल के मामले में पाते हैं, जहां ये दोनों चीजें पाई जाती हैं। यह तो निश्चित है कि इतनी बड़ी-बड़ी और शानदार इमारतें दूसरी दुनिया में शांति और खुशी पाने भर के लिए नहीं बनाई जा सकतीं, इसलिए इनका उद्देश्य दफनाए गए व्यक्ति की शान-ओ-शौकत और ताकत का प्रदर्शन करना भी रहा होगा।

सरायें

मध्यकालीन भारत की एक अत्यंत दिलचस्प परंपरा सराय बनाने की भी थी जो भारतीय उपमहाद्वीप में शहरों के आसपास यत्र-तत्र बनाई जाती थीं। सरायें आमतौर पर किसी वर्गाकार या आयताकार भूमि खंड पर बनाई जाती थीं और उनका प्रयोजन भारतीय और विदेशी यात्रियों, तीर्थयात्रियों, सौदागरों, व्यापारियों आदि को कुछ समय के लिए ठहरने की व्यवस्था करना था। दरअसल ये सरायें आम लोगों के लिए होती थीं और वहां विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों वाले लोग कुछ समय के लिए इकट्ठे होते या ठहरते थे। इसके फलस्वरूप आम लोगों के स्तर पर सांस्कृतिक विचारों, प्रभावों, समन्वयवादी प्रवृत्तियों, सामयिक रीति-रिवाजों आदि का आदान-प्रदान होता था।

लोगों के लिए इमारतें

मध्यकालीन भारत का वास्तुकलात्मक अनुभव राजे-रजवाड़ों या शाही परिवारों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि समाज के सामान्य वर्गों द्वारा और उनके लिए भी सार्वजनिक और निजी तौर पर भवन आदि बनाए गए जिनमें अनेक शैलियों, तकनीकों और सजावटों का मेल पाया जाता है। इन इमारतों में रिहायशी इमारतें, मंदिर, मस्जिदें, खानकाह और दरगाह, स्मृति-द्वार, भवनों के मंडप और बाग-बगीचे, बाजार आदि शामिल हैं।

मांडू

मांडु नगर मध्य प्रदेश में इन्दौर से 60 मील की दूरी पर स्थित है। यह समुद्र तल से 2000 फुट की ऊंचाई पर बसा हुआ है। यहां से उत्तर में मालवा का पठार और दक्षिण में नर्मदा नदी की घाटी नीचे साफ दिखाई देती है। मांडु की स्थिति प्राकृतिक रूप से बहुत सुरक्षित है। उसकी इसी सामरिक विशेषता को देखकर परमार राजपूतों, अफगानों और मुगलों ने इसे अपना आवास बनाया। होशंगशाह द्वारा 1401–1561 ई. में स्थापित गौरी राजवंश की राजधानी के रूप में इस शहर ने काफी मशहूरी पाई। उसके बाद मांडु का इतिहास सुल्तान बाज बहादुर और रानी रूपमती के प्रेम प्रसंगों से जुड़ा रहा। मुगल बादशाह यहां वर्षा ऋतु में भोग-विलास के लिए आया करते थे।

होशंगशाह का मकबरा

उस समय मांडु सरकारी, रिहायशी एवं आनंददायक राजमहलों, मंडपों, मस्जिदों, कृत्रिम जलाशयों, बावलियों, लड़ाई के समय रक्षा के लिए बनाई गई बुर्जो, फसीलों आदि का मिला-जुला रूप था। अपने आकार, विशालता और स्मारकीयता के बावजूद ये भवन प्रकृति की गोद में चापदार मंडपों के रूप में बने थे, यहां वायु तथा प्रकाश की कोई कमी नहीं थी इसलिए इन भवनों में गर्मी नहीं टिक पाती थी। इन भवनों के निर्माण में स्थानीय पत्थर और संगमरमर की सुलभता का लाभ उठाया गया था। मांडु प्रकृति के साथ वास्तुकला के अनुकूलन का एक उत्तम उदाहरण था।

शहर में स्थित शाही बस्ती में ऐशोआराम को ध्यान में रखकर बनाई गईं अनेक शानदार इमारतें, शाही महलों और नौकर-चाकरों के लिए बनाई गईं रिहायशी इमारतें, सरकारी कर्मचारियों के लिए कार्यालय और रिहायशी भवन दो कृत्रिम झीलों के चारों ओर निर्मित थे। हिंडोला महल एक बड़े रेल पुल की तरह दिखाई देता है जिसकी दीवारें बड़े-बड़े असमानुपातिक पुस्तों पर टिकी हुई हैं। यह सुल्तान का दीवाने आम था, जहां आकर सुल्तान अपनी प्रजा को दर्शन दिया करता था। हिंडोला का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इन दीवारों पर ढाल का बखूबी इस्तेमाल किया गया है।

हिंडोला महल

जहाज महल एक शानदार दो-मंजिली इमारत है जिसकी शक्ल पानी के जहाज जैसी है। यह दो जलाशयों के बीच में स्थित है और इसकी छत, बरामदे, बारजे और मंडप मानों पानी पर लटके हुए हैं। इसे सुल्तान गयासुद्दीन खिलजी ने बनवाया था। वह ऐशोआराम व मन बहलाव के लिए इसे अपने जनानखाने के तौर पर इस्तेमाल करता था। इसमें नहरें व नालियाँ हैं और छत पर तरण-ताल बना हुआ है।

रानी रूपमती का दोहरा महल दक्षिणी प्राचीर पर बना हुआ है जहां से नर्मदा घाटी का अति सुंदर दृश्य दिखाई देता है। बाज बहादुर के राजमहल में विस्तृत आंगन के चारों ओर बड़े-बड़े कक्ष और छज्जे बने हुए हैं।

जहाज महल, मांडु

एक मदरसा जिसे अशरफी महल कहा जाता है, इस समय एक खंडहर की हालत में सुनसान पड़ा है। होशंगशाह का मकबरा एक शानदार इमारत है। इसमें सुंदर गुंबद, संगमरमर की जाली का काम, ड्योढ़ियाँ, प्रांगण, मीनारें और बुर्जें देखने लायक हैं। इसे अफ़गान शैली के पौरुष/मर्दानगी का उदाहरण माना जाता है लेकिन इसका जालीदार काम, उकेरे हुए टोड़े और तोरण निर्माण कार्य की कोमलता प्रकट करते हैं।

मांडु की जामा मस्जिद जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज़ के लिए बड़ी संख्या में इकट्ठे होने वाले नमाज़ियों के लिए बनाई गई थी। इसके भीतर जाने के लिए एक बहुत बड़ा दरवाजा बना हुआ है जिसकी चोटी पर एक सिमटा गुंबद है। दरवाजे से घुसने पर एक बड़ा खुला सहन आता है जिसके तीन तरफ इबादत के लिए बंद कक्ष हैं जिन पर छोटे गुंबद बने हुए हैं। इमारत का सामने का हिस्सा लाल बलुआ पत्थर का बना है। किबला लिवान में बना मिमबर उकेरे हुए टोड़ों पर टिका है और मेहराब कमल कली की पंखुड़ी जैसा है।

यदि स्थानीय परंपराओं का साहसिक उल्लेख करें तो यह कहा जा सकता है कि मांडु की प्रान्तीय शैली की वास्तुकला, दिल्ली के शाही भवनों की कला के बहुत नजदीक है। तथापि, माण्डु की वास्तुकला की तथाकथित पौरुषपूर्ण और आडंबरहीन शैली, जिसमें फर्शी जालियाँ, उकेरे गए टोड़े और संरचनाओं का हल्कापन पाया जाता है, इण्डो-इस्लामिक वास्तुकलात्मक अनुभव की कहानी का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

मांडु की जामा मस्जिद

ताजमहल

1632 से इस स्मारक के निर्माण में लगभग 20 साल तक 20 हज़ार कामगारों ने काम किया।

ताजमहल में मध्यकालीन भारत की विकासात्मक वास्तु प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। इसके संरचनात्मक और अलंकरणात्मक, दोनों ही प्रकार के तत्वों में मुगलों द्वारा हिंदुस्तान लाए गए व यहां पहले से उपस्थित तथा शाहजहाँ व उसके वास्तुकारों द्वारा ताज के लिए परिकल्पित, सभी प्रकार के प्रभावों का संगम दिखाई देता है।

ताजमहल की भव्यता व शालीनता, उसकी आडंबरहीन तथा सरल योजना व उठान, उसके विभिन्न अंगों के बीच समानुपात एवं सुडौलता, संगमरमर के प्रयोग, यमुना नदी के किनारे उसकी स्थिति और ऊँचे आकाश में खड़ी उसकी भव्य इमारतों के कारण आती है। ताज की गरिमा दिन और रात के अलग-अलग समयों पर अलग-अलग रंगों का आभास कराती है।

ताजमहल को शाहजहाँ ने अपनी बेगम मुमताज महल की याद में एक मकबरे के तौर पर बनवाया था। इसके संपूर्ण परिसर में अनेक छोटे-बड़े भवन, कक्ष, बाग-बगीचे हैं। यह यमुना नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। अनुसंधानकर्ताओं ने पता लगाया है कि ताज के पीछे यमुना के बाएं किनारे पर भी पहले कभी एक बाग था जिसे माहताब बाग कहा जाता था।

ताज के विशाल परिसर में प्रवेश पाने के लिए लाल पत्थर से बने एक विशाल द्वार से होकर गुजरना पड़ता है। यह दरवाजा बहुत सुंदर है। मकबरा चारबाग शैली में बना है जिसमें फव्वारे और पानी के बीच से रास्ता है। मकबरे की इमारत को बाग के बीचोबीच न बनाकर उत्तरी किनारे पर बनाया गया है ताकि नदी तट की सुंदरता का लाभ उठाया जा सके।

बाग के बीचोबीच स्थित सीधा मार्ग आगंतुक को मकबरे के निचले हिस्से तक पहुंचा देता है। वहीं से मकबरे के फर्शी चबूतरे पर पहुंचा जाता है। चबूतरे के किनारों पर चार मीनारें खड़ी हैं जो ऊपर की ओर पतली होती जाती हैं। इन मीनारों की ऊंचाई 132 फुट है। इमारत के मुख्य भाग की चोटी पर गोलाकार गुंबद है और चार गुमटियां हैं जो सुंदर नम रेखा बनाती हैं। इमारत की कुर्सी, उसकी दीवारें और गुंबद तथा गुमटियों के बीच पूर्ण समानुपात है। सफेद संगमरमर जड़ी कब्रगाहों के पश्चिम की ओर एक लाल बलुआ पत्थर से बनी मस्जिद है और संतुलन बनाए रखने के लिए पूर्व में भी एक ऐसी ही इमारत बनी हुई है। इमारत के लिए संगमरमर राजस्थान में स्थित मकराना की खानों से खोदकर लाया गया था और मकबरे का यह सफेद संगमरमरी भवन आस-पास लाल बलुआ पत्थर से बनी हुई इमारतों से बिलकुल विपरीत दृश्य प्रस्तुत करता है।

मकबरे की इमारत वर्गाकार है और इसके खांचे आठ बगलें/साइडें बनाते हैं। उनके बीच गहरी चापें हैं। ये संरचनात्मक विशेषताएँ संपूर्ण इमारत के उठाव में भिन्न-भिन्न सतहों, छायाओं, रंगों आदि का आभास उत्पन्न करती हैं। इमारत की ऊँचाई फर्श से छत तक 186 फुट और छत से शिखर के फगूरों तक भी 186 फुट है।

मकबरे के भीतरी भाग में नीचे तलघर और उस पर मेहराबदार अष्टभुजी विशाल कक्ष हैं और प्रत्येक कोण पर कमरा बना है और ये सब गलियारों से जुड़े हैं। इमारत के हर हिस्से में रोशनी जाली-झरोखों से आती है जो भीतरी मेहराबों के आस-पास बने हुए हैं। छत की ऊँचाई बाहरी दरवाजे जितनी ही है और दो गुम्बदों के कारण बीच में जगह छूटी हुई है। ताजमहल की सुंदरता में वृद्धि करने के लिए उसकी भीतरी और बाहरी सतहों पर चार तरह के अलंकरणों या साज-सज्जाओं का प्रयोग किया गया है। इसकी दीवारों पर पत्थर को उकेरकर ऊँची और नीची उभारदार नक्काशी की गई है। जाली-झरोखों में जड़े संगमरमर में बारीक या सुकोमल नक्काशी की हुई है। दीवारों और मकबरे के पत्थरों पर पीले संगमरमर, जेड और जैस्पर की जड़ाई का काम किया हुआ है और साथ ही कहीं-कहीं चोपड़ पच्चीकारी के साथ ज्यामितीय डिजाइनें बनी हुई हैं। अंत में, सफेद संगमरमर पर जैस्पर की जड़ाई के द्वारा कुरान की आयतें लिखी गई हैं। इस सुंदर लिखावट से दीवारों की सुंदरता में चार चांद लग गए हैं और अल्लाहताला से सतत् संबंध जुड़ गया है।

गोल गुम्बद

गोल गुम्बद कर्नाटक के बीजापुर जिले में स्थित है। यह गुम्बद बीजापुर के आदिलशाही राजवंश (1489–1686 ई.) के सातवें सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह (1626–56 ई.) का मकबरा है। इसे स्वयं सुल्तान ने अपने जीवन काल में बनवाना शुरू किया था। इसका काम पूरा न होने के बावजूद यह एक शानदार इमारत है। मकबरे में कई छोटी-बड़ी इमारतें हैं, जैसे—भीतर आने के लिए विशाल दरवाजा, एक नक्कारखाना, एक मस्जिद और एक सराय जो दीवारों से घिरे एक बड़े बाग के भीतर स्थित हैं।

गुम्बद एक विशाल वर्गाकार भवन है जिस पर एक गोलाकार ढोल है और ढोल पर एक शानदार गुम्बद टिका हुआ है जिसके कारण उसे यह नाम दिया गया है। यह गहरे स्लेटी रंग के बेसाल्ट पत्थर से बना है और इसे पलस्तर से संवारा गया है। गुम्बद की इमारत की हर दीवार 135 फुट लंबी, 110 फुट ऊँची और 10 फुट मोटी है। ढोल और गुम्बद दोनों को मिलाकर इस इमारत की ऊँचाई 200 फुट से भी ऊँची चली जाती है। मकबरे का एक वर्गाकार बड़ा कक्ष है और 125 फुट व्यास वाला गुम्बद है। यह मकबरा 18,337 वर्ग फुट में फैला हुआ है और दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा मकबरा है।

मकबरे के बड़े कक्ष में सुल्तान, उसकी बेगमों व रिश्तेदारों की कब्रगाह हैं और उनकी असली कब्रें नीचे तहखाने में हैं। तहखाने में उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। वर्गाकार आधार पर बना अर्धगोलाकार गुम्बद बगली डाट के सहारे बनाया गया था। इन बगली डाटों ने गुम्बद को तो आकार दिया ही, साथ ही उसके भार को नीचे की दीवारों पर डाल दिया। बगली डाटों में चाप-जालियों (आर्चनेट्स) या तारकाकार रूपों वाली प्रणालियाँ बनी हुई हैं जिनसे प्रतिच्छेदी चापों द्वारा बने कोण ढक जाते हैं।

इस इमारत में एक आश्चर्यजनक ध्वनि-प्रणाली है। गुम्बद के ढोल के साथ-साथ एक फुसफुसाहट दीर्घा (व्हिस्परिंग गैलरी) बनी हुई है जहां धीरे से धीरे बोली गई या फुसफुसाई गई आवाज कई गुना तेज हो जाती है और उसकी प्रतिध्वनि कई बार गूंजती है।

इमारत के चारों कोनों पर सात मंजिली अष्ट भुजाकार मीनारें बनी हैं। ये मीनारें ऊपर गुम्बद तक पहुंचने के लिए सीढ़ियों का काम भी देती हैं। गुम्बद का ढोल बेलबूटों से सजा हुआ है। इमारत के मुहार (मुख भाग) की विशिष्टता यह है कि परकोटे के नीचे भारी ब्रैकेटों वाली कार्निस बनी हुई है। यह कार्निस अत्यंत उत्कीर्णित पत्थर के टोड़ों पर टिकी हुई है जो दीवार से आगे 10 फुट तक निकले हुए हैं। कार्निस मुंडेर को सहारा देती है जिसमें अनेक चापदार झरोखे और पत्ती की शक्ल वाली दीवारें हैं।

गोल गुम्बद मध्य कालीन भारत में प्रचलित अनेक वास्तु शैलियों का सुंदर संगम है। स्मारकीयता, विशालता व भव्यता, सब बीजापुर के इन भवनों में पाई जाती हैं। इसके गुम्बद, मेहराबों, ज्यामितीय अनुपातों व भारवाही तकनीकों जैसी संरचनात्मक विशेषताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें तिमूरी व फारसी शैलियों को अपनाया गया है। लेकिन इसके निर्माण में स्थानीय सामग्री लगी है और यह दक्कन में लोकप्रिय फर्शी सजावटों से सजा है। किनारों पर बनी चार मीनारें उन बुर्जों के अवशेष हैं जो मस्जिदों के साथ लगी हुई थीं, जैसा दिल्ली के पुराने किले की किला-इ-कुहना मस्जिद में दिखता है।

गुम्बद का ढोल

फुसफुसाहट दीर्घा

जामा मस्जिद, दिल्ली

जामा मस्जिद

मध्य कालीन भारत में स्थान-स्थान पर अनेक बड़ी-बड़ी मस्जिदें बनाई गईं जहां नमाज़ आदि के लिए विशाल आँगन थे। यहां हर जुम्मे (शुक्रवार) को दोपहर बाद नमाज पढ़ने के लिए नमाज़ियों की भीड़ जमा होती थी। ऐसी सामूहिक नमाज़ के लिए कम से कम 40 मुस्लिम वयस्क पुरुषों का इकट्ठा होना जरूरी था। शुक्रवार को नमाज़ के समय शासक के नाम में एक खुतबा को पढ़ा जाता था और आम प्रजा के लिए बनाए गए उसके कानूनों को पढ़कर सुनाया जाता था। मध्य काल में, एक शहर में एक जामा मस्जिद होती थी जो अपने नज़दीकी परिवेश के साथ-साथ आम लोगों यानी मुस्लिम और गैर-मुस्लिम दोनों संप्रदायों के लोगों के लिए जीवन का केंद्र-बिंदु थी। इसका कारण यह था कि यहां धार्मिक और अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक गतिविधियों के साथ-साथ वाणिज्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी बहुत होता था। आमतौर पर ऐसी मस्जिद काफी बड़ी होती थी, उसमें एक खुला सहन होता था जो तीन तरफ से ढके हुए रास्तों (इबादत घरों) से घिरा हुआ होता था और उसमें पश्चिम की ओर क़िबला लिवान होता था। यहीं पर इमाम के लिए मेहराब और मिमबर बने होते थे। नमाजी अपनी इबादत (प्रार्थना) पेश करते समय मेहराब की ओर ही अपना मुंह रखते थे क्योंकि यह मक्का में काबा की दिशा में होती थी।

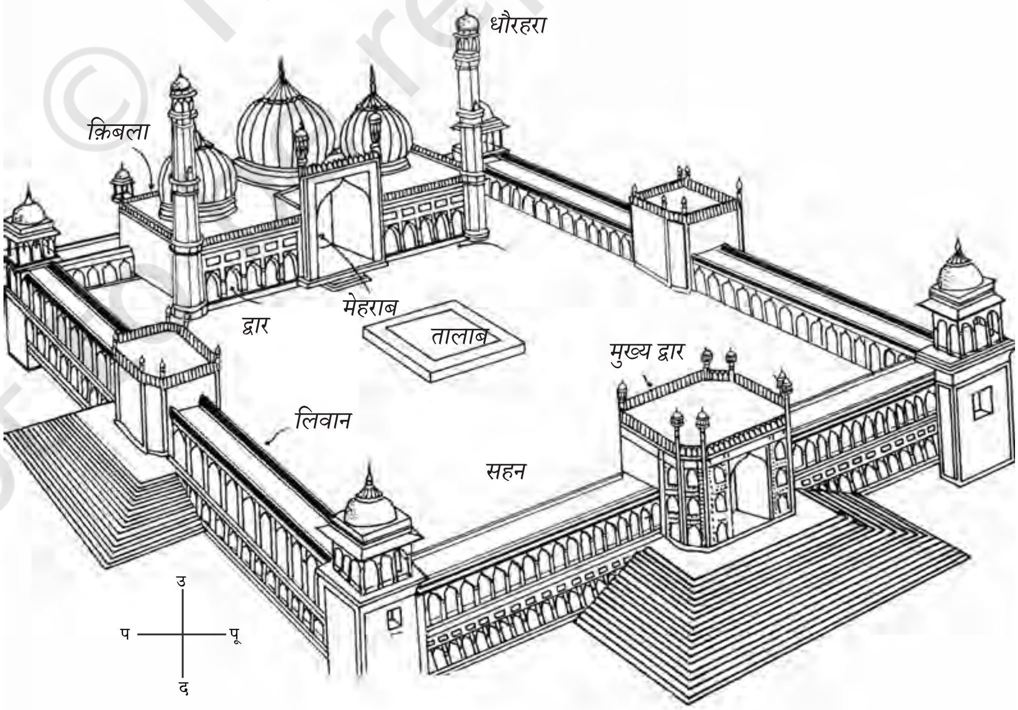

जामा मस्जिद का रेखा-चित्र

© NCERT not to be republished

अभ्यास

1. आप इण्डो-इस्लामिक या इण्डो-सारसेनिक शब्दों से क्या समझते हैं? क्या आप इस शैली के लिए किसी दूसरे नाम का सुझाव दे सकते हैं?
2. तेरहवीं शताब्दी में भारत में भवन निर्माण के कौन-से नए प्रकार अपनाए गए?
3. इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला की चार श्रेणियों का उल्लेख करें?
4. मध्य कालीन भारत में किले का क्या महत्व होता था? शत्रुओं को भरमाने या हराने के लिए किलों में क्या-क्या सामरिक उपाय अपनाए जाते थे?
5. इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला का उद्भव और विकास कैसे हुआ?
6. मांडु इस तथ्य को कैसे उजागर करता है कि मानव अपने आपको पर्यावरण के अनुरूप ढाल लेते हैं?
7. अपूर्ण होते हुए भी गोल गुम्बद को इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला का भव्य एवं अनूठा प्रतीक क्यों माना जाता है?
8. मकबरा और दरगाह, कुछ ऐसे स्थान हैं जहां मृतकों को दफनाया जाता है। इन दोनों में क्या अंतर है? क्या आप किसी मृतक व्यक्ति के किसी स्मारक के बारे में जानते हैं?
9. 'पूर्णता' शब्द ताजमहल के साथ जोड़ा जाता है। क्यों?

परियोजना

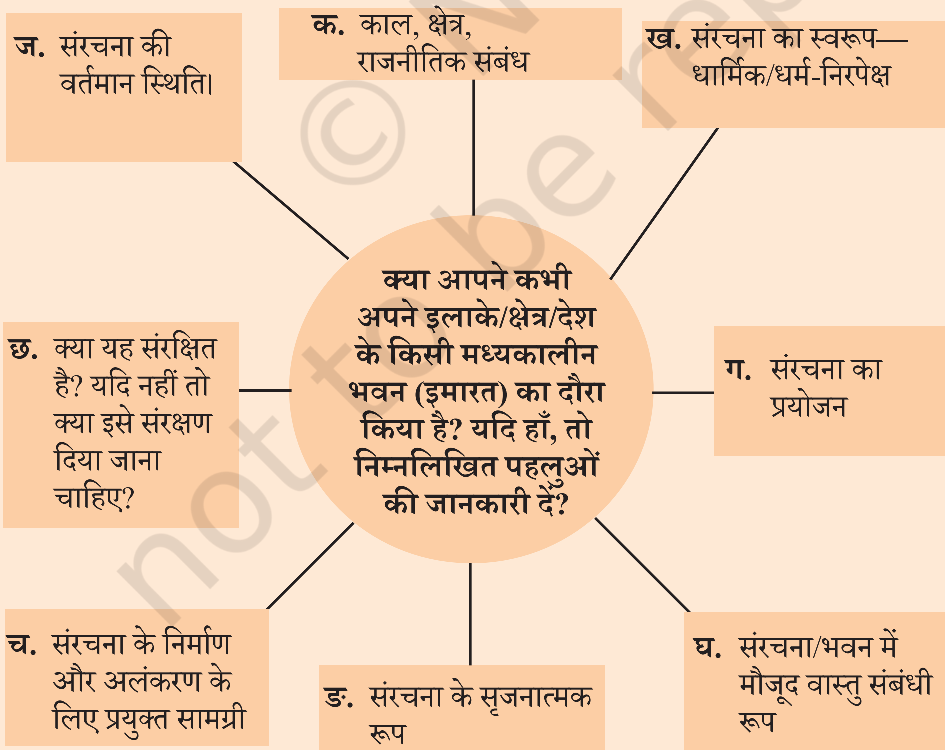

© NCERT not to be republished

शब्दावली

अण्ड	अर्धगोलाकार गुम्बद यह आमतौर पर बौद्ध-स्तूप संरचना में प्रयोग किया जाता है।
अरबस्क	लाइनों, पत्तियों और फूलों वाली सजावटी डिज़ाइन जो इण्डो-इस्लामिक वास्तुकला की विशेषता है।
अरबी शैली	पश्चिम एशियाई देशों में मुस्लिमों का लोकप्रिय स्थापत्य जो ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक प्रचलित था।
अर्धमण्डप	गर्भगृह के सामने स्थित अर्धमण्डप।
अलंकृत पच्चीकारी	दीवारों और फर्श पर की गई सुंदर सजावट।
अवदान	बौद्ध साहित्य से जुड़ा जीवन घटनाओं तथा अच्छे कर्मों के लिए प्रयुक्त नाम।
अष्टदिक्पाल	आठ दिशाओं के रखवाले।
आधिपत्य	वह शासन जिसका दूसरे राज्यों पर किसी न किसी प्रकार का आधिपत्य हो, जो आंतरिक रूप से स्वायन्त: हो।
आमलक	धारीदार आँवले के फल जैसे आकार वाला शिखर जो प्राय: उत्तर भारतीय मंदिरों के शिखर के शीर्ष पर बनाया जाता है।
आयुध	शस्त्र।
ईसा पूर्व	सामान्य युग से पहले।
कलश	चौड़े मुँह वाला पात्र; मंदिर के शिखर पर सजावटी कलश/मटके का आकार।
कार्निस	नीचे सजावट के लिए दीवार पर उभारी गई पट्टी।
क़िबला लिवान	मक्का की दिशा में स्थित मस्जिद की दीवार।
किला-ए-कुहान मस्जिद	दिल्ली के पुराना किला स्थित शेरशाह सूरी अथवा हुमायूँ द्वारा निर्मित मस्जिद।
कीलाकार	मेहराब बनाने हेतु कील/खूँटे के आकार वाला पत्थर।
कुण्डली	घुमावदार अलंकृत खम्भा।
कूट	वर्गाकार योजना वाला मंदिर।
कोस मीनार	मीनार के आकार का मील का पत्थर।
गर्भगृह	मंदिरों के अन्दर का वह हिस्सा जहाँ अधिष्ठाता की मूर्ति स्थापित होती है।
गहपति	बड़ी भूमि का मालिक या बड़ा किसान जो खेती और व्यापार में शामिल है।
गोपुरम्	मन्दिर का मुख्य प्रवेश द्वार।
चकमक पत्थर	काले या गहरे भूरे रंग का एक पत्थर जिसका पोत चिकना नहीं है।
चक्र	बौद्ध संप्रदाय के पूजा का चक्र/पहिया।

© NCERT not to be republished

चतुरस्त्र	वर्गाकार।
चारबाग	वर्गाकार भागों में पानी के चैनलों से अन्तर्विभाजक चार भागों में विभाजित उद्यान।
चैत्य का मेहराब	ऊपर की ओर केंद्र में उठाई टिप के साथ अर्द्ध परिपत्र चाप।
छत्र	छाते की आकृति वाला स्तूप शीर्ष।
छत्री	चार स्तंभों पर रखी हुई एक गुम्बद या पिरामिड के आकार की छत।
छेनी	नुकीली या आड़ी धारी वाला पत्थर जिसे हड्डी, सींग और हाथी दांत पर उत्कीर्णन के लिए प्रयुक्त किया जाता है।
जगमोहन	मुख्य मंदिर के सामने आयताकार या वर्गाकार मण्डप (यह ओडिशा वास्तुकला की शैली है)।
जातक	गौतम बुद्ध के जन्म के बारे में मानव और जानवर दोनों के रूपों में उल्लिखित एक साहित्य।
टेम्पेरा	यह एक स्थायी तथा रंगीन पदार्थ है जो पानी में घुलनशील होता है।
डैडो पैनल	दीवार के आंतरिक निचले हिस्से से पृथक वह हिस्सा जो जमीन से लगा होता है। इसके कुछ उत्तम उदाहरण होयसाल मंदिर (हलेबिड), जमाली कमली का महरौली स्थित मकबरा और आगरा के निकट फतेहपुर सीकरी का तुर्की सुल्तान का महल हैं।
तारकीय योजना	मेहराब की जालियाँ, जिन्हें इस प्रकार बनाया जाता है कि उनमें तारों के आकार का विकिरण दिखाई देता है।
तिपतिया	तीन घुमाव वाला मेहराब।
तीर्थंकर	जैन धर्म के आध्यात्मिक उपदेशक/गुरु।
तोरण	दरवाजे पर लगा नक्काशीदार, सर्पाकार तोरण जिसे समारोहों के अवसर पर लगाया जाता है।
त्रिपुरांतक शिव	शिव को धनुष और तीर चलाने वाले हथियारों के साथ चित्रित किया गया है, परंतु पिनाकपाणि से अलग।
द्रविड़	दक्षिण भारतीय लोग; संस्कृति; भाषा एवं स्थापत्य।
धर्मचक्रप्रवर्तन	भगवान बुद्ध द्वारा वाराणसी के निकट सारनाथ में दिया गया पहला प्रवचन जिससे धर्म रूपी चक्र का आरंभ हुआ।
नक्कारखाना	नगाड़ा बजाने के लिए बना कमरा जो प्राय: किले अथवा महल के मुख्य द्वार से लगा होता था। मुगलकालीन महलों का यह एक मुख्य हिस्सा था।
नागर	उत्तरी भारत के मंदिरों की स्थापत्य शैली।
नाट्यमण्डप अथवा रंगमण्डप	मंदिर के अग्र-भाग स्थित सभागार जहाँ नृत्य किया जाए।
पंचायतन	चारों कोनों पर स्थित छोटे मंदिरों के मध्य बना मुख्य मंदिर।
पठान स्थापत्य	दिल्ली के खिलजी शासक जोकि अफगान माने जाते थे, उनके द्वारा निर्मित स्थापत्य शैली।

© NCERT not to be republished

पदक स्वरूप आकृतियाँ या सुलेख से सजे गोलपदक के समान दिखने वाले मेहराब।

पिएत्रा-द्यूरा अर्द्ध कीमती पत्थरों के प्रयोग से बना मोसैक (पच्चीकारी का काम) जो ताजमहल में दीवारों, छत्रियों और संगमरमर पर देखने को मिलता है।

पेन्डेन्टिव दो दीवारों के मध्य एक त्रिकोणीय कोष्ठक, जो गुम्बद के आधार तल से मेहराब को सहारा देता है।

प्रदक्षिणा परिक्रमा।

प्रमुख पत्थर मेहराब के शिखर पर रखा एक केंद्रीय पत्थर।

फंसना आम तौर पर मंडप के ऊपर या शिखर पर बनी प्रतिकृतियाँ।

फलक एक निश्चित आकार का एक पैनल या उसके समान एक शिलालेख या चित्र।

फिरोज़ा आसमानी अथवा हल्के हरे रंग का अर्ध-मूल्यवान पत्थर जिसे अनेक प्राचीन कालीय अलंकारों में लगाकर बहुमूल्य बनाया गया।

फेयन्स विभिन्न नीले रंग की नकली कांच जैसी वस्तु जिसका प्रयोग आभूषणों की सज्जा के लिए किया जाता है।

फ्रेस्को भित्ति चित्रकारी के प्रयोग में लाया जाने वाला गीले चूने का प्लास्टर।

बंग बंगाल का पुराना नाम।

बहुरंगी वह वस्तु जिस पर विभिन्न रंगों की सज्जा/कारीगरी की गई हो।

बिल्लौर विश्व के विभिन्न भागों में पाया जाने वाला बिल्लौर पत्थर जिसे औज़ार बनाने एवं समारोहों में प्रयोग में लाया जाता था। इसकी विभिन्न किस्में पायी जाती हैं।

बौद्ध धर्म गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म जो ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ।

बोधिसत्व बौद्ध धर्म में बोधिसत्व से तात्पर्य महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों से है।

भित्ति-चित्र दीवार गुफ़ाओं, इमारतों अथवा मंदिरों की दीवार पर फ्रेस्को या किसी अन्य शैली में की गई चित्रकारी।

मकबरा मृतकों को दफनाये गए स्थल की इमारत।

मण्डप सभागार।

महापरिनिर्वाण भगवान बुद्ध की मृत्यु अथवा निर्वाण (जीवन और मृत्यु के चक्र से मुक्ति)।

महामण्डप मंदिर के अग्र-भाग में स्थित मण्डप अथवा सभागार।

मिमबर जिस पर मस्जिदों में खुतबा पढ़ा जाता है।

मिहराब/मेहराब प्रार्थना गृह जो मक्का की ओर इंगित करता है।

मुखलिंग लिंग जिस पर मुखाकृति हो।

मृण्मूर्ति मिट्टी की बनी मूर्ति जिसे सूखने के बाद आग में पकाया जाता है जिसके बाद वह लाल रंग की हो जाती है।

मेड़ी गोलाकार नली।

© NCERT not to be republished

यक्ष/यक्षिणी	प्राकृतिक संसाधन एवं प्रकृति का संरक्षण करने वाले।
रूपकार	कलाकार।
लाजवर्द मणि	नीला अर्द्ध कीमती पत्थर। प्राचीन काल में इसका मुख्य स्रोत उत्तरी अफगानिस्तान में बदाक्षन के पहाड़ों में था, जहां से व्यापक रूप से इसका कारोबार होता था। लाजवर्द मणि का इस्तेमाल आभूषणों, मुहरों आदि में जड़कर किया जाता था।
लिंग	भगवान शिव की लिंग के रूप में पूजा की जाती है।
लेखाप्रसाद	उस शैली के मंदिर जिनमें शिखर का आधार चौकोर होता है जिसके फलक ऊपर की ओर जाते-जाते अन्दर की ओर तिरछे होते जाते हैं।
वज्रयान	बौद्ध धर्म से उत्पन्न तांत्रिक प्रक्रिया वाला वाद।
वर्ण	प्राचीन काल में व्यवसाय पर आधारित चार वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) में विभाजित समाज।
वलभी	नागर शैली के मन्दिरों की एक श्रेणी।
विमान	दक्षिण भारतीय मंदिरों के गर्भ के ऊपर का शिखर।
विहार	वह स्थान जहाँ बौद्ध साधु रहते थे।
वेसर	कर्नाटक के चालुक्य शासकों के समय बने मंदिरों की स्वतंत्र शैली जिसमें उत्तर (नागर) एवं दक्षिण (द्रविड़) भारतीय शैलियों का मिश्रण था।
श्रमण	बौद्ध अथवा जैन संप्रदाय के वे लोग जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते थे।
शिखर	उत्तर भारतीय शैली के मंदिरों का शिखर जो गर्भगृह के ऊपर होता है।
शिल्पशास्त्र	भारतीय कला एवं स्थापत्य के नियमों एवं तत्वों का वर्णन करने वाले ग्रंथ, शिल्पशास्त्र कहलाते थे।
शिल्पी	कलाकार।
संकुचित स्थान	वर्गाकार कमरे के चारों तरफ का मेहराब जिस पर गुम्बद टिकता है।
सभा मण्डप	सभागार।
सराय	वह स्थान जहाँ राहगीर रुक सकें।
साम्राज्यवादी	पूर्णतया स्वाधीन रूप से शासन करने वाला प्राधिकारी।
सूर्यकांतमणि	बिल्लौर पत्थर की एक किस्म जो लाल, पीली या भूरी हो सकती है। लंबे समय से इसका प्रयोग आभूषण और अलंकरण के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है।
सुलेखन	सजावटी लिखावट की कला।
सेलखड़ी	धूसर अथवा हरे से रंग का पत्थर जो मुलायम होता है और जिससे आकृतियाँ, बर्तन, मुहरें और अन्य वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं।
स्कन्ध	मेहराब के बाहरी घुमाव पर एक चौकोर घेरे के बीच की तिकोनी जगह।
स्टक्को	दीवार तथा सजावट के लिए प्रयोग किया जाने वाला अच्छा प्लास्टर।

© NCERT not to be republished

स्तूप	बौद्ध संप्रदाय के लोगों द्वारा पूज्य वह अण्डाकार संरचना जिसमें बुद्ध के अवशेष रखे हों।
स्थापति	वास्तुकार।
स्फटिक	एक उच्च गुणवत्ता वाला पारदर्शी, रंगहीन शीशे जैसा पदार्थ जिसके अलंकृत पात्र एवं आभूषण बनाए जाते हैं।
हमाम	तुर्की शैली में बना स्नान गृह।
हर्मिका	अर्ध वृत्तीय स्तूप के गुंबद पर छोटे वर्गाकार बाड़ लगाना।

© NCERT not to be republished

टिप्पणी

© NCERT
not to be republished

टिप्पणी

© NCERT not to be republished